प्रथम संस्करण : १९४६
द्वितीय संस्करण : १९५२
तृतीय संस्करण : १९५८
चतुर्थ संस्करण : १९६१

- बोर्ड ऑफ हायर सैकण्डरी एजूकेशन, दिल्ली द्वारा १८-६-६० की प्रकाशित सूची के अनुसार स्कूल-पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।
- शिक्षा-मन्त्रालय, राजस्थान की सन् १९५८ के प्रकाशित सूची के अनुसार माध्यमिक शालाओं के पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।
- शिक्षा-मन्त्रालय, राजस्थान की सन् १९५८ में प्रकाशित सूची के अनुसार राजकीय, जिला व नागरिक पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

मूल्य :
पाँच रुपये पचास नये पैसे

मुद्रक
सत्यपाल शर्मा
दी सैन्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस,
८०-डी, कमलानगर, दिल्ली।

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे गवेषणात्मक निबन्ध का पूर्वार्द्ध है। इसमे हिन्दी रीति-काव्य की भूमिका मात्र उपस्थित की गई है। ग्रन्थ में तीन अध्याय है :—पहले मे रीति-युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए, एक प्रकार से, अभीष्ट चित्र के लिए आधार-फलक तैयार किया गया है। यहाँ मैंने घटनाओ को प्रायः बचाते हुए तत्कालीन जीवन की आंतरिक प्रवृत्तियो को ही ग्रहण किया है, क्योंकि काव्य का सीधा सम्बन्ध उन्ही से है। जीवन की इन भौतिक, बौद्धिक आध्यात्मिक एवं रागात्मक अन्तःप्रवृत्तियों मे परस्पर क्या सम्बन्ध था, इसका निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। दूसरे अध्याय मे रीति-काव्य के शास्त्रीय आधार का साधारणतः ऐतिहासिक और विशेषतः सैद्धातिक विवेचन है। इस प्रसंग में भारतीय काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धातो और उन पर आश्रित सम्प्रदायो का नवीन साहित्य-शास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रकाश मे विश्लेषण एव स्पष्टी-करण किया गया है। आज काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अध्ययन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है और मैं विस्तारपूर्वक इस पर लिखना भी चाहता था। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध के अन्तर्गत इसके लिए अवकाश नहीं है। अतएव मैंने मूल सिद्धातो को ही ग्रहण किया है, उनके विस्तार-प्रस्तार और अंग-उपांगो को छोड़ दिया है। मनो-विज्ञान और नवीन काव्य-सिद्धांतों के प्रकाश में भारतीय काव्य-शास्त्र का अध्ययन हिन्दी में अभी अत्यन्त विरल है—उपर्युक्त अध्ययन मे मैंने इसी महत्त्वपूर्ण प्रसंग का रूपरेखा बांधने का विनम्र प्रयत्न किया है। तीसरे अध्याय मे रीति-काल की सामान्य प्रवृत्तियो का विश्लेषण है। यहाँ भी मैंने अपने विवेचन को प्रवृत्तियो तक ही सीमित रखा है। व्यक्तियो को यद्यपि स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया गया, परन्तु निष्कर्षो मे अधिकांशत. सभी प्रतिनिधि रीति-कवियो के मुद्रित और हस्तलिखित (प्राप्य) ग्रन्थो का आश्रय लिया गया है।

हिन्दी मे रीति-काव्य प्राय. उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी-युग के

आलोचकों ने इस कविता को भी विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा : किसी ने, छायावाद के प्रतिनिधि [illegible] इसको [illegible] और [illegible] [illegible] और [illegible] प्रगतिशील समीक्षक इसको [illegible] की [illegible] कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही इस कविता की [illegible] प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है—अन्य [illegible] दृष्टियों को प्रयत्न-पूर्वक बचाया है। और, इस दृष्टि से आप देखेंगे कि [illegible] है और न उपेक्षणीय। इस [illegible] का [illegible] है।

आकाशवाणी, १९४९ —नगेन्द्र

विषय-क्रम

रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक स्थिति

आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्राय: सर्वमान्य-सा ही हो गया है।—और वास्तव मे सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत-कुछ सगत तथा विवेकपूर्ण है। उसके अनुसार रीतिकाल के अन्तर्गत स० १७०० से सं० १९०० तक पूरी दो शताब्दियाँ आ जाती है।

सम्वत् १७०० से १९०० तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुगल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमश. उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। सम्वत् १७०० मे भारत के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। मुगल वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था—जहाँगीर ने जो साम्राज्य छोड़ा था, शाहजहाँ ने उसकी और भी श्री-वृद्धि एवं विकास कर लिया था। दक्षिण में अहमद-नगर, गोलकुण्डा और बीजापुर-राज्यों ने मुगलो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, और उत्तर-पश्चिम मे सं० १६९५ मे कन्धार का किला मुगलो के हाथ आ गया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार उसका साम्राज्य सिंध के लहिरी बन्दरगाह से लेकर आसाम मे सिलहट तक और अफगान-प्रदेश के बिस्त के क़िले से लेकर दक्षिण मे औसा तक फैला हुआ था। उसमे २२ सूबे थे, जिनकी आमदनी ८८० करोड़ दाम अथवा २२ करोड़ रुपया थी। देश मे अखण्ड शान्ति थी, खजाना मालामाल था। हिन्दुस्तान की कला अपने चरम वैभव पर थी। मयूर-सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। परन्तु उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँचने के उपरान्त यहीं से अपकर्ष का भी आरंभ हो गया था। अप्रतिहत मुगल-वाहिनी पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे लगातार तीन बार पराजित हुई—मध्य एशिया के आक्रमण बुरी तरह विफल हुए। इन विफलताओं से न केवल धन-जन की हानि हुई वरन् मुगल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का लगा। उधर दक्षिण मे भी उपद्रव आरम्भ हो गए थे। बाहर से यद्यपि हिन्दुस्तान सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था, परन्तु उसके अन्तस्तल में अज्ञात रूप से क्षय के बीज जड़ पकड़ रहे थे। जहाँगीर की मस्ती और शाहजहाँ के अपव्यय दोनों का

परिणाम अहितकर हुआ। जिस प्रकार साहित्य के इतिहास मे भक्ति-काव्य के चरम वैभव के बाद स० १७०० के आस-पास ही कविता क्षय-ग्रस्त होने लगी थी, ठीक उसी प्रकार राजनीतिक इतिहास मे मुगल-साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरात ह्रासोन्मुख हो चला था।

सं० १७१५ मे शाहजहाँ बहुत सख्त बीमार पड़ गया—देश मे एक अफवाह उड़ गई कि सम्राट् की मृत्यु हो गई। मुगलो मे चूँकि उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नही था अतएव दुर्भाग्यवश बादशाह के जीवन-काल मे ही उसके पुत्रो मे सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। यह युद्ध रीति-काल के आरम्भ की सब से प्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना है—इसका राजनीतिक और नैतिक प्रभाव समस्त देश पर पडा। सम्राट् का सब से बडा पुत्र दारा अपने सास्कृतिक व्यक्तित्व के कारण न केवल सम्राट् का ही वरन् प्रजा का भी स्नेह-भाजन था—परन्तु वह कूटनीति से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार औरंगज़ेब का व्यक्तित्व कठोर और दृढ था। उसकी हार्दिक शक्तियाँ जितनी सीमित थी, बौद्धिक शक्तियाँ उतनी ही विकसित थी। मानव-चरित्र के अध्ययन मे उसकी गति अपरिमित थी—उसकी दृष्टि अन्त प्रवेशिनी और निर्णय-शक्ति स्थिर-सयत थी। कूटनीति मे वह दक्ष था। दारा के विपरीत वह कट्टर सुन्नी था—उसमे धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। दारा और औरगजेब का युद्ध मानो सस्कृति और राजनीति का युद्ध था। कई जगह कई महीनो तक मोर्चा लगा। सारा साम्राज्य ईश्वर के सदृश प्रतापी मुगल सम्राट् के पुत्रो मे होने वाले इस भयंकर युद्ध को विस्फारित नेत्रो से देख रहा था। हिन्दू और उदाराशय मुसलमान दारा की ओर थे—कट्टर सुन्नी औरंगज़ेब की तलवार पर इस्लाम की विजय की आशा केन्द्रित किये हुए थे। भाग्य के अनुरोध मे दारा की पूर्ण पराजय हुई—देश ने इस लोक-प्रिय राजकुमार के वध का लोमहर्षक नाटक अपनी आँखो से देखा। उन्होने देखा मानो नैतिक और धार्मिक विश्वासो को पैरो-तले कुचलता हुआ औरगजेब भाइयो के खून की नदी पार कर सिंहासन तक पहुँच गया है और गर्व से उस पर आसीन है। औरगजेब का राज्य-काल स० १७१५ से स० १७६४ तक एक सम्पूर्ण अर्ध-शताब्दी को आच्छादित किए हुए है। उसका वृहत् राज्य-काल अशान्ति और सघर्ष का इतिहास है। इसका पूर्वार्ध तो प्राय. जमीदारो, राजाओ तथा हिन्दुओ के धार्मिक उपद्रवो एव विद्रोहो का दमन करने में बीता। सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबो मे हुए। आगरा प्रान्त मे गोकुल के नेतृत्व मे जाटो ने, अवध में बैस राजपूतो ने, और इलाहाबाद मे हरदी [illegible] अन्य जमीदारो ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। औरंगज़ेब ने यथासमय सभी को शात किया और इन उपद्रवी हिंदुओं से

प्रतिशोध के लिए मथुरा मे केशवदास का मन्दिर और काशी मे विश्वनाथ का मन्दिर विध्वस्त करा दिया, जिससे उसकी हिन्दू-विरोधी नीति और भी स्पष्ट हो गई। उधर बुन्देलखण्ड में चम्पतराय विद्रोही हो गए और उनकी मृत्यु के उपरात उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुगलों का विरोध करते रहे।

कविवर लाल ने अपने ग्रथ 'छत्र-प्रकाश' मे उनकी वीरता और बलिदान का ओजस्वी वर्णन किया है :

मारि तुरक कौ मुँह मुरकायौ। रन में विजै बुँदेला पायौ॥
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यौ। बल दिवान पर हल्ला बोल्यौ॥
बजे नगारे फेर जुझाऊ। रन में रुप्यौ उमड़ि बलदाऊ॥
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहाँ खम खाई॥
ओड़ि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लर्‌यौ बल करन बुँदेला॥
खमरि खेत तहवर विचलायौ। सूबन के उर साल सलायौ॥
सले साल सूवानि कै, धवकनि हलै पठान।
दियौ भाल छत्रसाल कै, राजतिलक भगवान॥

राजपूताना में मारवाड के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अशान्ति फैली हुई थी। अब तक राजपूताना के प्रमुख राज्य मुगलों की निष्कपट रूप से सेवा करते रहे थे—जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्जा जयशाह ने साम्राज्य की ओर से युद्ध करते हुए ही अपने प्राण गँवाए थे। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त औरगज़ेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिया, जिसके कारण मारवाड और मेवाड मुगलो के विरुद्ध हो गए—उधर उन्होंने शाहजादा अकबर को भी अपनी ओर तोडकर औरगज़ेब को विपम परिस्थिति में डाल दिया। अन्त मे हार तो राजपूतो की ही हुई फिर भी दुर्गादास अन्त तक मुगलो का सामना करता रहा। इधर आत्म-रक्षा के निमित्त हिन्दू-धर्म के विभिन्न समुदायो में भी चेतना जागृत हो रही थी। नारनौल और मेवाड़ के प्रातों मे सतनामी मत के लोगों ने भयकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अद्भुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक उनमे अतिप्राकृतिक शक्तियो का संदेह करने लगे और स्वय औरगज़ेब को—जो मुसलमानो का 'जिन्दा पीर' समझा जाता था—अपने हाथो से दुआएँ और आयते लिख-लिखकर शाही झंडो मे टाँकनी पडी। पजाब मे सिखो का असन्तोप बढ रहा था। गुरु तेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविंदसिंह के बच्चो पर किए गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिख-धर्म के नीचे एक साम्यवादी सैनिक जाति का निर्माण और विकास हो रहा था, परन्तु स्वतन्त्र शक्ति अभी इनमे भी नही आई थी। स्वयं गुरु गोविन्दसिंह ने ही मुगल का मनसब स्वीकार कर लिया था। दक्षिण की दशा और भी खराब थी। औरंगज़ेब क

धार्मिक असहिष्णुता ने दक्षिण के शिया राज्यों की शक्ति सर्वथा क्षीण कर दी थी। वह स्वय इतनी दुर्व्यवस्था ठीक करने मे असमर्थ था, अतएव शिवाजी की अध्यक्षता मे मराठे शक्ति सगठित कर रहे थे। कुछ दिन तो वे केवल उपद्रव ही करते रहे, परन्तु फिर शिवाजी ने व्यवस्थित राज्य स्थापित कर लिया। गुरु रामदास आदि के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओ मे राष्ट्रीय पुनर्जागृति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे। भूषण ने शिवाजी की राष्ट्रीय भावना का जो वर्णन किया है, वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तु-स्थिति से बहुत दूर नही है। शताब्दियो से मुगल सेना अपराजेय समझी जाती रही थी, परन्तु शिवाजी ने यह स्वप्न भग कर दिया। मराठो का यह प्रदेश हिन्दी-भाषी प्रातो से दूर था। अतएव इस पुनर्जागृति का प्रभाव वही तक सीमित रहा—उत्तर के प्रान्त उससे अस्पृष्ट रहे। वहा की हिन्दू जनता अभी उसी प्रकार आत्मचेतना-शून्य थी। राज्य-काल के उत्तरार्ध मे सम्राट् का ध्यान दक्षिण पर केन्द्रित रहने के कारण उत्तरापथ मे अशान्ति और अव्यवस्था और भी बढ गई। इस प्रकार औरगजेब के शासन-काल मे देश की राजनीतिक स्थिति डॉवाडोल थी, विशाल मुगल साम्राज्य की चूले ढीली पड गई थी और वह अपनी विशालता को सभालने मे असमर्थ हो गया था। शाहजहाँ और औरगजेब पूर्णत. अहवादी सम्राट् थे—उनको अपने निर्णय अथवा न्याय-विचार मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नही था। इसलिए सम्राट् का अपना व्यक्तित्व साम्राज्य के लिए असीम महत्व रखता था। ये लोग अपने मत्री आप थे। इस भयंकर व्यक्तिवादी राजतत्र का परिणाम यह हुआ कि मुगल शासन न तो भारतीयो को एक राष्ट्र मे परिणत कर पाया और न सशक्त स्थायी राज्य ही प्रतिष्ठित कर पाया। जनता को किसी प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता नही थी, उसे अपने न्याय-विचार या वैयक्तिक स्वातंत्र्य का कोई अधिकार नही था, राजनीतिक अधिकार तो उस समय अकल्पनीय थे। शासन पूर्णत' व्यक्ति की इच्छा पर था—जिसके लिए वैधानिक नियमो का कोई महत्व नही था, विद्रोह और क्राति का ही भय था। मुगल सम्राटो की शासन-प्रणाली स्पष्ट रूप से सामतीय थी। अकबर के समय मे राजकीय कर्मचारियो को नकद वेतन मिलता था, परन्तु शाहजहॉ के राजत्व-काल मे आकर इन लोगो की सख्या इतनी बढ गई कि राज्य का कोष उसको पूरा न कर पाता था। अतएव शाहजहॉ को जागीर की प्रथा चलानी पडी। इस प्रकार उसके समय मे साम्राज्य की शक्ति अमीरो और जागीरदारो के सैनिक-बल पर ही अवलम्बित रहती थी। परन्तु इनमे आपस मे विद्वेष था और इनके पारस्परिक कलह और दलबन्दी राज-सेवा मे प्राय बाधक होते थे। औरंगजेब के समय मे राज्य का खर्च और भी बढ गया था—वह हमेशा अपने जगीरदारो और सामतो से बडे-बडे उपहार लेकर उसे पूरा करने की फिराक मे रहता था। एक प्रकार से वह ओहदे बेचने लग गया था। मुसलमान के लिए धार्मिक पाखड, हिन्दू के लिए धर्म-

परिवर्तन—और इन दोनों के लिए ही बड़ी-बड़ी भेंटें—उस समय पद-प्राप्ति के साधन थे। इस प्रकार सामंतीय शासन निर्बल हो गया था, बेचारे जागीरदारों को भेंट के रूप में इतना धन सम्राट् को देना पड़ता था कि वे अपना निर्वाह भी नहीं कर पाते थे। स्वभावत. उनके सैनिक बल का ह्रास होने लगा था। वे छोटे-छोटे जमींदारों के उत्पातों का भी दमन नहीं कर पाते थे। सं० १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। अभी तक उसका दृढ़ व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सँभाले हुए था। उसकी मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने उसके सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने बृहत् राज्य को सँभालने में समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बड़े वेग से आरम्भ हो गया।

सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है। यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में १९१४ के गदर में जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ। मुगल-वंश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अन्तःपुर में क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव में विलासी, निर्वीर्य एवं व्यक्तित्व-हीन हो गए थे। मुगलों के जैसे राजत्व-विधान के लिए, जहाँ सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट् के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गए थे। मुगल-दरबार स्वयं अमीरों और राजकीय अधिकारियों की उच्चाकांक्षाओं का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगों के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट् का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुखसियर के समय में सैयद भाइयों और तूरानी सरदारों का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहों को बनाने-बिगाड़ने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना में जाट और राजपूतों के विद्रोह हो रहे थे दिल्ली के उत्तर में सिखों का प्रभुत्व बढ़ रहा था—बन्दा बैरागी के उपद्रवों ने बहादुरशाह और फर्रुखसियर दोनों के नाक में दम कर दिया था। दक्षिण में मराठों की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ़ रही थी। निर्बल मुगल शासक प्राय उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फर्मान देकर जैसे-तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे। इधर यूरोप से आई हुई व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दुस्तान की अव्यवस्था से उत्साहित होकर धीरे-धीरे, परन्तु दृढ़ता [illegible] रही थी। अंगरेजों और फ्रांसीसियों ने काफी प्रभुत्व [illegible]

इतिहासकारों [illegible] काल के इतिहास

१. पहले में [illegible] प्रभुत्व बढ़ा। [illegible]

हुआ। हिन्दुस्तान की सेना अपना उत्साह और पराक्रम खो बैठी थी—अनुशासन सर्वथा शिथिल हो गया था। निदान नादिरशाह के विजयोत्साह के सम्मुख उसकी घोर पराजय हुई। मुहम्मदशाह बन्दी बना और दिल्ली मे कत्ले-आम का हुक्म हुआ। सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रान्त ईरानियो के अधीन हुए। शासन और भी जर्जरित हो गया। अवध के सूबेदार सआदतअली खॉ, बगाल के अलीवर्दी खॉ, और दक्षिण के निजामुलमुल्क आसफजाह स्वतन्त्र हो गए।

२ दूसरे भाग मे अवध और दक्षिण के सूबेदारो के गृह-कलह मे आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई। अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली के हमले शुरु हो गए थे। सम्वत् १८१८ मे उसने मराठो की सम्मिलित शक्ति को पूरी तरह से पराजित कर दिया। मराठो के वर्धमान प्रभुत्व को पानीपत की पराजय मे विशेष आघात पहुँचा। अगरेजो का अधिकार विस्तृत हो चला। उन्होंने बक्सर के युद्ध मे शाह आलम को हराकर अपने आश्रय मे ले लिया और बगाल, बिहार, उडीसा की दीवानी के बदले उसे इलाहाबाद और कडा के जिले दे दिए। इधर उन्होंने फ्रांसीसी सेना को भी पूरी तरह हरा कर उसके बल को नि.शेष कर दिया। मराठो का उत्कर्ष एक बार फिर हुआ, लेकिन आपस के सघर्षों से वह शीघ्र ही कुण्ठित हो गया।

३. पतन-काल के तीसरे भाग मे मराठो की शक्ति भी नि:शेष हो गई और अंगरेजो का प्रभुत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे दृढ हो गया। मुगल साम्राज्य अब केवल दिल्ली और आगरा के आस-पास तक ही सीमित रह गया था। इस प्रदेश को भी बेचारा शाह आलम अपने नियत्रण मे नही रख पाता था, क्योंकि उसके पास अपना कोई सैन्य-बल नही था। इस समय दिल्ली-दरबार की आन्तरिक राजनीति केवल उन षड्यन्त्रो का इतिहास है जो दरबार के विभिन्न दलो मे वज़ीर-पद की प्राप्ति के लिए हो रहे थे। इन षड्यन्त्रो मे मराठे, जाट, रुहेले और अवध के नवाब मुख्य भाग ले रहे थे। उनकी छोटी-छोटी लडाइयो से उस समय का इतिहास भरा हुआ है।[1]

शाह आलम के बाद अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके समय मे लखनऊ के नवाबो को बादशाह की उपाधि प्राप्त हुई, अगरेजो ने उसे बादशाह स्वीकार किया। यह स्थिति भी बहुत दिनो तक न रही। अगरेजो ने बगाल के बाद बनारस, इलाहाबाद और अवध पर अधिकार कर लिया—और फिर कुछ समय में ही नामशेष मुगल राज्य का अत करके सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय के एक पत्र मे गवर्नर जनरल एलेनब्रुक ने रेज़ीडेण्ट टामस मेटकाफ को लिखा था—"बादशाह की ऊपरी शानो-शौकत का शृगार उतर चुका है। उसके वैभव की पहली-

१. डा० ताराचन्द—'हिन्दुस्तान के निवासियों का सक्षिप्त इतिहास'।

भी तड़क-भड़क नहीं रही, इसलिए जनता के इस ढाँचे में बादशाह की उपाधि का धारण करना ऐसा कुछ भी कठिन नहीं है।"

इस युग में दूसरे हिन्दू-प्रदेशों की भी लगभग यही दशा थी जो दिल्ली राज्य की थी। हिन्दी के रीति-काव्य का सृजन और पोषण जिन प्रान्तों में हुआ है वे हैं अवध, बुंदेलखंड और राजस्थान। अवध की राजनीतिक परिस्थितियों का उल्लेख मुगल-साम्राज्य के प्रसंग में ऊपर हो ही चुका है। राजस्थान में उस समय मुख्य चार राजवंश थे—अम्बेर के कछवाहे, मेवाड़ के सिसौदिया, मारवाड़ के राठौर और कोटा-बूंदी के हाड़ा। राजस्थान का इतिहास भी इस समय पतन का इतिहास है। उसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मुगल साम्राज्य के इस विनाश-काल में भी ये लोग अपनी शक्तियों को संचित और एकत्रित करके हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाए। और, करते भी कैसे? राजपूतों की अनादि काल से चली आई हुई फूट इस समय तो और भी जोरों पर थी। बहुसंख्यक राजपूत राजाओं के रनिवासों में मुगल हरमों की तरह आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का नग्न नृत्य होता था—एक-एक राजा की कई विवाहिता रानियाँ और अनेक रक्षिताएँ होती थीं। अहंकार इन राजपूतों में इतना भयंकर था कि उसके सम्मुख कोई भी आदर्श, कोई भी सम्बन्ध नहीं टिक सकता था। पिता-पुत्र में अधिकार के लिए युद्ध होना यहाँ भी मामूली बात थी। अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था, तो मारवाड़ का अमरसिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था। मेवाड़ में चण्डावत और शक्तावत-वंशों में भयंकर गृह-कलह था, जिससे मेवाड़ की सम्पूर्ण शक्ति जर्जर हो गई थी। राजस्थान में पूर्णतः सामन्तीय शासन था, जिसमें सब-कुछ शासक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहता था। राजा का व्यक्तित्व ही शासन-तन्त्र की धुरी था, उसमें शिथिलता आ जाने से सम्पूर्ण व्यवस्था का छिन्न-भिन्न हो जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति की यह प्रधानता एक ओर राजपूतों में स्वामि-भक्ति, देश-प्रेम, जाति और धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था जैसे चारित्रिक गुणों का विकास करती थी, दूसरी ओर निरन्तर अशान्ति, गृह-कलह और वैयक्तिक अधिकार-चेष्टा को भी जन्म देती थी जिससे संगठन असम्भव हो जाता था। बाह्य भय के अभाव में प्रायः आन्तरिक वैर-भावना उभर आती थी और वैयक्तिक प्रतिद्वन्द्वों के कारण सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती थी। जब राजपूत-वैयक्तिकता आन्तरिक संगठन में ही इतनी बाधक थी तो राजस्थान का जातीय संगठन कैसे सम्भव होता? दो-एक बार मराठों और मुगलों के विरुद्ध इस प्रकार संगठन के प्रयत्न भी हुए, परन्तु उनका कोई सत्परिणाम असम्भव था; क्योंकि राजपूतों का वंशगत अहंकार और उनके शत-शत परम्परागत विद्वेष किसी प्रकार के भी संगठन को विफल कर देते थे। उधर मुगलों की पराधीनता से उनका नैतिक बल नष्ट हो चुका था, अतएव उनमें स्थिरता और सच्ची देश-भक्ति का प्रायः अभाव ही था। उनमें वे

उत्तेजनाएँ सन्निपात के रोगी की उत्तेजनाएँ ही थीं।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन से हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं—

(१) समस्त देश युद्धों और विप्लवों से आक्रांत था, जिनके कारण व्यवस्था पूर्णत छिन्न-भिन्न हो गई थी। केन्द्रीय शासन के निर्बल हो जाने से विभिन्न प्रान्तों मे छोटे-छोटे महत्वहीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुगल-साम्राज्य की विराट् गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति मे क्षुद्रता आ गई थी।

(२) यह राजनीतिक अध पतन का युग था। शासन-समुदाय मे मौलिक प्रतिभा नि शेष हो चुकी थी। स्वय औरगजेब भी सफल राजनीतिज्ञ नही था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास, टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग मे कल्पना भी नही की जा सकती थी।

(३) इस युग मे उत्तरी भारत ने औरगजेब को छोडकर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नही उत्पन्न किया। मुगल-परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें उत्पन्न कर रहा था। औरगजेब के सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियो के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग मे नहीं पडा।

(४) इसी समय देश पर भयकर बाह्य आक्रमण हुए—नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलो ने गिरती हुई दीवारो को एक धक्के मे धराशायी कर दिया। दिल्ली के कत्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया।

(५) इस युग का शासन-विधान स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था जो सैनिक सामन्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरगजेब के अशक्त उत्तराधिकारियो के हाथ मे पडकर वह ऐसा अस्त-व्यस्त हो गया था कि उपर्युक्त विधान के सभी दुर्गुण उसमे उभर आए थे।

(६) शाहजहाँ ने अपने शासन-काल के उत्तरार्ध मे जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था औरगजेब ने उसे पूर्णता को पहुँचा दिया। परिणाम-स्वरूप हिन्दू और मुसलमानो मे पार्थक्य की एक तीखी चेतना उत्पन्न हो गई थी। दोनों ही निर्वीर्य हो चले थे। हिन्दू पादाक्रांत थे और मुसलमान विलास-जर्जर।

सामाजिक परिस्थिति

जैसा कि डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, भारतीय इतिहास यहाँ के सम्राटों के जीवन और उनकी विजय-पराजय का इतिहास है, विदेशी यात्रियो के अतिरिक्त किसी भी देशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नही दिया—

"शाहजहाँ के समय में हिन्दुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था। सम्राट् इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो

ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर थे। इनके बाद साधारण कर्मचारियो का वर्ग था, जो राज्य के छोटे-छोटे विभागो मे काम करते थे। उस समय का मध्यवर्ग अधिकतर इन्हीं लोगो से निर्मित था। इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दूकानदार आदि भी थे, परन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की स्थिति मे होते हुए भी शिक्षा, संस्कृति से हीन थे। निम्न वर्ग मे नौकरी-पेशा लोगो और मजदूरो के अतिरिक्त भारत का वृहत् कृषक-समुदाय भी था, जो सोना पैदा करके मिट्टी पर गुजर कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता था—एक उत्पादक-वर्ग और दूसरा भोक्ता-वर्ग। उत्पादक-वर्ग मे कृषक-समुदाय और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामलो से सर्वथा पृथक् रहकर अपने खेती-व्यापार के कामो मे लगे रहते थे, सरकार को कर देते थे और उसके बदले आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवो से त्राण पाते थे। भोक्ता-वर्ग सम्राट् के परिवार और दरबारो से लेकर उनके नौकर-चाकर और दासो तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था, अतएव उत्पादक-वर्ग पर इनका पूर्ण प्रभुत्व था। सामाजिक स्थिति भी स्वभावतः इनकी श्रेष्ठतर थी। इन दोनो के बीच बहुत बड़ा अन्तर था—शासक और शासित—शोषक और शोषित का।"

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति—इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग विद्वानो का था, जो बादशाह, बड़े अमीरो और छोटे-छोटे रईसो के आश्रय मे रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार इस युग मे कवियों और कलावन्तो की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्न और मध्यवर्ग से होता था, परन्तु रहते थे उच्च वर्ग के आश्रय मे। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गों के विभिन्न सस्कारो से ही होता था फिर भी उसमे प्रधानता उच्च वर्ग के सस्कारो और उसकी आशा-आकाक्षाओ की रहती थी, क्योंकि बाद मे निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नही रह जाता था। निम्न वर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इनकी कृतियो पर पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके। परन्तु शाहजहाँ के उपरात इन लोगो के लिए राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया और औरगजेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य की शक्ति का विकेन्द्रीकरण वेग से आरम्भ हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि और कलाकार भी दिल्ली के दरबार को छोड़कर विभिन्न राजाओ, सूबेदारो, नवाबो और रईसो के दरबार मे बिखर गये, स्वभावत: उनकी भी सामाजिक स्थिति बहुत गिर गई।

मुगल-परिवार और मुगल-दरबार.—शाहजहाँ का राज्य-काल वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बर्नियर, ट्रैवर्नियर, मैनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध हो गए थे। उन सभी ने चित्रमय मुगल-दरबार की मुक्त

कण्ठ मे प्रशंसा की है। सम्राट् की व्यक्तिगत जीवन-चर्या पर अपार धन-राशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुगल-परिवार मे रत्नों और मणियों का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असम्भव था। सम्राट् के लिए प्रति वर्ष एक हजार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार मे आने वाले अमीर-उमराओं को भेंट कर दिए जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण-खचित वस्त्रों, रत्न-हारों और बहुमूल्य इत्रों से आपूर्ण रहता था। मुगल-अन्तःपुर का वैभव इन्द्र-भवन को मात करता था। बर्नियर लिखता है—"मैंने (मुगल-हरम मे) प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहिरात देखे हैं, जिनमे बाज तो असाधारण हैं। .... वे इन मोती की मालाओं को कन्धों पर ओढ़नी की तरह पहनती हैं। इनके साथ दोनों तरफ मोतियों की कितनी ही मालाएँ होती हैं। सिर मे वे मोतियों का गुच्छा-सा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभूषण जवाहिरात का बना हुआ सूरज, और चांद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ एक गोल छोटा-सा गहना होता है, जिसमे दो मोतियों के बीच जड़ा हुआ एक छोटा-सा लाल होता है। कानों मे बहुमूल्य आभूषण पहनती हैं और गर्दन के चारों तरफ बड़े-बड़े मोतियों तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार, जिनके बीच मे एक बहुत बड़ा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारों तरफ बड़े-बड़े मोतियों के दाने होते हैं।　"　एक शब्द मे इन बेगमों का सारा शरीर आपादचूड़ जवाहिरातों मे ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र मे बसी हुई होती थी—दिन मे न जाने कितनी बार ये वस्त्र बदलती थीं। रीतिकाव्य की वासक-सज्जाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती होगी। दरबार के अमीरों और कर्मचारियों का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजा भी अपने मुगल-अधिपतियों का अनुसरण करते थे। उनके महलों में भी इन्द्र-सभा जुटी रहती थी। अवध के नवाबों और जयपुर, मारवाड़ आदि के हिन्दू राजाओं के जीवन-वृत्त इसके साक्षी हैं। ये लोग भव्य भवनों मे रहते थे, जो विलास की सामग्री से जगर-मगर होते थे। उत्सवों और पर्वों के दिनों मे इनमे शोभा का स्वर्ग उतर आता था। तुलना कीजिए :

(१) प्रतिबिम्बित जय साह द्युति दीपति दरपन-धाम।
　　सब जगु जीतन कौ कर्यो काय-व्यूह मनु काम॥

(बिहारी-सतसई)

(२) फटिक सिलान सौं सुधार्यो सुधा-मंदिर,
　　उदधि-दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद।

बाहिर ते भीतर लौं भीति न दिखय 'देव'
दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद ॥
तारा-सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द ।
आरसी-से अम्बर में आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चंद ॥

(देव : सुजान विनोद)

नगर से बाहर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे और स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खडे हुए बिहारी और देव-जैसे अनेक रसिक 'मगि कुच आँचर बिच बाँह' देकर भीगे-पट घर को जाने वाली सुन्दरियो की शोभा निरखते रहते होंगे। औरंगजेब के बाद जब देश की समृद्धि का क्षय होने लगा तो वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया, जो घोरतर पतन का सूचक था।

विलास या शृंगारिकता:—वैभव और विलास का सहज सम्बन्ध है। अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था। मुगल अंत.पुर मे हजारो स्त्रियाँ रहती थीं। बर्नियर के साक्ष्य के अनुसार बहुधा राजमहलो मे भी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियो की २००० स्त्रियाँ रहती थी—जिनके कर्तव्य-कर्म भिन्न-भिन्न होते थे। इनमे अनेक बादशाह की सेवा और बहुत-सी शाहजादियो के मनोरजन और शिक्षा आदि के लिए नियुक्त थी। शिक्षा प्राय आशिकाना गजलो, फारस की अश्लील प्रेम-कहानियो आदि की ही होती थी। इनमे से बुड्ढी स्त्रियो से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियाँ स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियो को धोखे, फरेब या लालच से महल में ले आती थी। रीति-काव्य की दूतियाँ बहुत-कुछ इनका ही प्रतिरूप थी। सम्राट् के महलो मे सुन्दरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार था। मदिरा-पान उस समय का सबसे भयकर व्यसन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से धार्मिक निषेधों का उपहास करते हुए मदिरा का निर्बाध सेवन करते थे। अमीरो और राजाओं के महलो मे शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरो में भी वेश्याओं का जमाव रहता था—मुगल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी बृहत् सेना चला करती थी। छोटे-छोटे अधिकारियों और रईसों के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग-विलास में ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियो के अष्टयामों मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।

औरंगजेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया. उसने सुरा और अन्य मादक वस्तुओ को निषिद्ध कर दिया। वेश्याओ को शादी करने पर मजबूर किया, परन्तु समस्त देश में वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवादी

सम्राट् के सभी निषेध-प्रयत्न उसमे वह गए। अमीर-उमराओं ने उसके निषेध-पत्रों को शराब की सुराही मे उसी तरह गर्क कर दिया, जिस तरह कि कुछ वर्ष बाद स्वयं औरगजेब के उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह रँगीले ने नादिरशाह के पत्र को गर्क कर दिया था। मदिरा और प्रमदा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा मे वर्तमान थे। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और पकवानो का उपयोग होता था। साहित्य मे वदनाम 'पद्माकर' का छद उसकी एक क्षीण झाँकी-भर देता है

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चांदनी हैं चिक है दिरागन की माला हैं।
कहै 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला है॥
शिशर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तानतुक ताला हैं विनोद के रसाला हैं।
सुवाला हैं दुशाला हैं विशाला चित्रशाला हैं॥

(जगद्विनोद)

विलास की अगणित ललित क्रीडाओं का नन्दय था। अन्तःपुर मे शतरंज, चौसर और गजीफा के खेल इनका मनोरंजन करते थे, बाहर शिकार या पतगबाजी। तरह-तरह के पशु-पक्षी—कबूतर, लाल, तोता, मैना आदि के स्वरों से रनिवास गूंजते रहते थे। अकबर के जमाने की हाथी और चीतो की लडाई का स्थान अब बाज और सिकरो की लडाई ने ले लिया था।

विहारी के अनेक दोहो मे इनका प्रतिविम्ब मिलता है :

(अ) उडत गुडी लखि लाल की अँगना अँगना माँह।
वौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥
(आ) ऊँचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित वदनु तनु पुलकित किहि हेतु॥

(सतसई)

देश की परिस्थिति ज्यो-ज्यो विगडती गई, त्यो-त्यो विलास के ये साधन भी अधिक अस्वस्थ होते गए, जिनसे समाज का मानस पूर्णतः विकृत हो गया।

श्रमी वर्ग—श्रमी-वर्ग की दशा इसके विलकुल विपरीत थी। वर्ण-व्यवस्था का लोप हो चुका था, अत. समाज व्यवसाय और पेशो के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों मे विभक्त था। सभी वर्णों के लोग सुविधानुसार प्रायः सभी काम करते थे, परन्तु इन वेचारो का जीवन दैन्य और शोषण से आक्रान्त था। इनमें अधिकतर आबादी किसानो ही की थी।

दिन-भर काम करने के उपरान्त ये ग़रीब सिर्फ एक बार ही भोजन कर पाते थे। मुगल बादशाहों के असंख्य युद्धों, बहुमूल्य इमारतों, उनके और उनके अमीरों के विलास-वैभव सभी का भार अन्त में जाकर इन किसानों पर ही पड़ता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्हीं लोगों की हड्डियों पर खड़े हुए थे, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूँदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। राजा के अबाध अपव्यय की क्षति-पूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी; कर्मचारीगण राजा का और अपना उदर किसानों का खून चूसकर भरते थे। सम्राट्, सूबेदार, फौजदार, ज़मींदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिनके कष्टों को केवल भगवान् ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारों की टोलियाँ, राजपूताने के डाकू उन की हरी-भरी फसलों को तहस-नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी। मज़दूरों और कारीगरों को यों ही बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मज़दूरी अक्सर कोड़े से मिलती थी। उधर भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोपों ने उनका जीवन असह्य कर दिया था। इस प्रकार हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति एक साथ बिगड़ गई थी। देश की धन-समृद्धि का ही नाश नहीं हुआ वरन् शिल्प, कौशल, संस्कृति और कला की भी दुर्गति हो गई थी।

हिन्दू-मुसलमानों की जातीय स्थिति:—हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय संगठन को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया था। किसी दृढ आधार के अभाव में हिन्दुओं में जाति-भेद की भावना प्रबल हो उठी थी। वेद-मन्त्रों के उच्चारण अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारों को लेकर उनमें आपस में भयंकर संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक दम्भ अबाध गति से बढ रहा था। शूद्र सर्वथा अस्पृश्य समझे जाते थे, उधर मुसलमान समस्त हिन्दू जाति को ही हीन समझते थे। शासन उनका था ही, अतएव हिन्दुओं की अपेक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का श्रेष्ठतर होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के साथ शाहजहाँ के समय से ही ज्यादातियाँ हो रही थीं; उनके मन्दिर तुड़वा दिए गए थे, विद्यालय और पुस्तकालय नष्ट कर दिए गए थे, उत्सव और मेलों पर प्रतिबन्ध था। राज्य के पदाधिकार उनके लिए प्राय: वर्जित ही थे। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र चेतना अब भी बनी हुई थी। परन्तु औरंगज़ेब के बाद ज्यों-ज्यों मुगल-शासन क्षीण होता गया और देश विपत्ति-ग्रस्त होता गया, यह पार्थक्य कुछ कम अवश्य होने लगा था। उनके सामाजिक सम्पर्क गहरे होने लगे—निर्गुण सन्तों और सूफ़ी फ़क़ीरों के प्रभाव से उनकी धार्मिक भावनाओं में भी थोड़ा-बहुत समन्वय हुआ। उधर उनके पारस्परिक आचार-विचारों में भी बहुत-कुछ समता आ गई। हिंदू-मुसलमानों के उत्सव, संस्कार, रीति-रिवाज, आमोद-प्रमोद आदि में साधारणत: भेद करना कठिन हो गया। गाँव के लोगों के व्यवहारों में तो यह अभेद और भी अधिक था। परन्तु यह

एकता किसी प्रकार स्थायी नही थी—थोडे से भी उलट-फेर से स्थिति विगड जाती थी, स्वय मुसलमानो मे शिया और सुन्नी का, तूरानी और ईरानी का भयकर भेद-भाव था।

नैतिक अवस्थाः—राजनीतिक और सामाजिक अधोगति का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक अधोगति। हिन्दू युग-युग से पदाक्रान्त रहने के कारण और मुसलमान विलास तथा आन्तरिक एव वाह्य द्वन्द्वो से जर्जर होकर अपना नैतिक वल खो वैठे थे। दोनो की निर्वाध इन्द्रिय-लिप्सा की ओर सकेत ऊपर हो चुका है, पर वह नैतिकता का एक पहलू है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस युग मे सर्वथा दुर्वल हो गए थे। अपने अनियन्त्रित अपव्यय को भरने के लिए कर्मचारी-वर्ग खुले-आम रिश्वत लेता था। वडे-वडे अधिकारियो से लेकर छोटे-छोटे कर्मचारियो तक रिश्वत का वाजार गर्म था। स्वयं वादशाह ओहदे वेचते थे और आवश्यकता पडने पर दूसरो को उत्कोच देकर अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न भी करते थे। औरगजेव ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार विजय किये। अनेक हिन्दुओ को धन और ओहदो का लालच देकर मुसलमान वनाया। उसके वाद के सम्राट् शक्तिशाली अमीरो और वाह्य आक्रमणकारियो से घूस देकर ही अपनी रक्षा करते रहे। शाही खानदान विलासजन्य दुर्गुणो का केन्द्र था—वहाँ ईर्ष्या, द्वेप, छल, कपट और पड्यन्त्रो का नगा नाच होता था। उत्तराधिकार के लिए होने वाले पड्यन्त्रो और युद्धो मे मुगल-राजकुमारो ने जिस नृशसता और पापाचार का परिचय दिया उसका नैतिक प्रभाव जनता पर वहुत ही वुरा पडा। प्रजा के हृदय से स्वामि-भक्ति, सत्याचरण और कर्तव्य-निष्ठा की भावनाएँ लुप्त हो गई, स्वार्थ-साधना प्रवल हो उठी। वाद मे जहाँदार-शाह जैसे वादशाहो ने तो मुगल-वश का गौरव विल्कुल ही धूल मे मिला दिया। उसकी रखैल लाल कुँवर स्वय सम्राट् और वडे-वडे अमीरो का जनता मे अपमान कर देती थी। यही व्यवहार राजपूताना मे मारवाड-नरेश विजयसिंह की पासवनी वेश्या उसके और उसके सामन्तो के साथ कर रही थी। शाहजादो, राजपुत्रो अव अमीरजादो की शिक्षा का उचित प्रवन्ध नही था। उनका भरण-पोपण जिस कलुपित वातावरण मे होता था, वह उन्हे विलासी और निर्वीर्य ही वना सकता था—उन पर हिजडो और युवती दासियो का प्रभुत्व था। उनके शिक्षक भी वेतनभोगी सेवको से अधिक सम्मान नही पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरगजेव के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्जा तफख़ुर की तरह वाज़ार में आवारागर्दी और औरतो से छेड-छाड शुरू कर देते थे। जनता के आचार-रक्षको के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे। नैतिक वल के ह्रास से लोग पूर्णत. भाग्यवादी वन गए थे। सभी वर्ग के लोगो की ज्योतिप मे प्रगाढ आस्था थी—सम्राट् और अमीरो के साथ-साथ ज्योतिपियो का एक समुदाय चलता था। हिन्दू-नृपतियो की अध आस्था का तो कहना ही क्या ? वे तो शकुन के विना पत्ता भी नही तोड सकते थे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। वास्तव

मे इस सम्पूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अन्धकार आच्छादित किए हुए था। शाहजहाँ और औरंगजेब के पत्रो मे—इस युग की सभी घटनाओ में—विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है. और ज्यो-ज्यों समय बीतता गया यह छाया भी गहरी ही होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओ ने वाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र मे स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिए थे। निदान लोगो की वृत्तियाँ अंतर्मुखी होकर अस्वस्थ काम-विलास मे ही अपने को व्यक्त करती थीं। वाह्य जीवन से त्रस्त होकर उन्हे अंत.पुर की रमणियों की गोद मे ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा से ही अपने रगो का संचय कर रही थी। युग-जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गई थी।

धार्मिक परिस्थिति

धर्म की स्थिति और भी दयनीय थी। जैसा डा० ताराचद ने लिखा है—इस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियो मे तीन प्रकार के लोग थे : पहला वर्ग विद्वानो, पण्डितो और मौलवियो का था, जो विधिवत् शास्त्रीय धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थे। ये लोग अपने धर्म-ग्रन्थो की आज्ञाओ का अक्षरश पालन करते थे। अपना धर्म इनके लिए एक सनातन सत्य था और शास्त्रो की वाणी ईश्वर की वाणी थी जिसमे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नही था। हिन्दी प्रान्तो मे शास्त्रीय धर्मो में इस समय मुख्यत: वैष्णव धर्म की शाखा-प्रशाखाओ का प्रचार था और उनमें भी सबसे अधिक प्रचलित थी' कृष्ण-भक्ति शाखा, क्योकि वही युग की प्रवृत्ति के अनुकूल थी। कृष्ण सम्प्रदाय मे भी इस समय तक कई उप-सम्प्रदाय आविर्भूत हो गए थे और विभिन्न स्थानो पर उनकी गद्दियाँ विद्यमान थी। वल्लभ-सम्प्रदाय मे विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरात उनके सात पुत्रो ने गोकुल, कामवन, काँकरौली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, वम्बई और काशी मे भिन्न-भिन्न सात गद्दियाँ स्थापित कर ली थी। इन लोगो में अनेक विद्वान् हुए—उदाहरणार्थ काँकरौली के गो० हरिराय जी महाराज, जिन्होने श्रीनाथजी की 'प्राकट्य वार्ता' का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अन्य गोस्वामियो ने भी वल्लभाचार्य के अणु-भाष्य की व्याख्या करने का क्रम प्रचलित रखा, परतु गोकुलनाथजी के उपरात इस सम्प्रदाय मे किसी ने भी मौलिक एवं महत्वपूर्ण कार्य नही किया। वाद मे गद्दियो के स्थापित हो जाने से इन लोगो पर भी देश की तत्कालीन लोक-रुचि का प्रभाव पडा। वैभव के अभिशाप से ये भी अछूते नही रह पाए। इन गोस्वामियो का सम्पर्क राजाओं और श्रीमानों से वढने लगा और ये उन्हे ही गुरु-दीक्षा देने के लिए लालायित रहने लगे। जनता की इनकी गद्दियों मे कोई पूछ नही थी, और चूंकि ये लोग जनता मे वाहर जाकर धर्म का प्रचार नही करते थे, अतएव उससे उनका सम्पर्क स्वभावत. ही कम हो गया था। साथ ही राजसी ठाठ-वाट के वातावरण मे रहने

के कारण इनकी साधना और तत्त्व-चिंतन मे भी शैथिल्य आ गया था। धर्म का तात्त्विक विकास एकदम रुक गया था और उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यन्त समृद्ध हो गए थे। सेवा-अर्चना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियो का आविष्कार हो गया था। जब भक्त लोग इस प्रकार ऐश्वर्य और विलास मे सलग्न थे, तो भगवान् उनसे कैसे वचित रहते।

उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्र किए गए थे कि 'अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती, या कुतुबशाह भी अपने अन्त.पुर मे उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते।' यही दशा माधव, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायो की गद्दियो की थी। उनमे राधा की महत्ता के कारण शृंगार-भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी।

चैतन्य-सम्प्रदाय का वृन्दावन और बगाल मे खूब जोर था। कीर्तन की लोकप्रियता के कारण उसका जनता से घनिष्ठ सम्पर्क था। अत' उसमे अपेक्षाकृत जीवन भी अधिक था। परन्तु उसने लोगो की भक्ति-भावना के साथ परकीया भाव को भी प्रोत्साहन दिया। उधर रूपगोस्वामी ने सम्पूर्ण नायिका-भेद को ही कृष्ण-भक्ति मे फिट कर दिया। कृष्ण-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायो मे भी इसी प्रकार तत्त्व-चिन्तन क्षीण और बाह्य अर्चन-विलास समृद्ध हो चला था।

मठ और मन्दिर देवदासियो और मुरलियो के चरणो की छन-छन से गूंजते रहते थे। महाराष्ट्र मे अवश्य इस समय तुकाराम के अभगो और रामदास के 'दास बोध' द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। तुकाराम, तुलसी और सूर की कोटि के सन्त और कवि थे। उनके अभगो ने दक्षिण भारत की जनता को शुद्ध भक्ति-रस मे विभोर कर दिया, और उधर रामदास ने भी जीवनगत धर्म की प्रतिष्ठा करके जनता मे उत्साह और शक्ति का सचार किया। सिख धर्म मे भी यथेष्ट जीवन था, परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी-प्रातो से बाहर पडती थी। अतएव हिन्दी-साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नही था। तात्पर्य यह है कि जन-जीवन की धारा से असम्पृक्त रहकर धर्म इस युग मे रूढिवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमे नही रह गई थी। सम्पन्न हिन्दुओ मे धर्म के प्रति आस्था तो नि शेष हो चुकी थी, केवल धर्म-भीरुता शेष थी। इस युग के सम्राटो का दृष्टिकोण पूर्णत. ऐहिक था और उनके प्रभाववश उनके निकट सम्पर्क मे आने वाले उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण हो गया था। मुसलमानो के लिए तो इस ऐहिकता को स्वीकार कर लेना सहज था परंतु हिन्दुओ का पूरी तरह इसी रंग मे रग जाना उतना सरल नही था। उनकी प्रवृत्ति उन्हे ऐहिकता की ओर खीचती थी, परन्तु सस्कारो पर परलोकवाद का बोझ था। परिणाम यह हुआ कि धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया। धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। बाह्य विलास और प्रसाधन बढ गए और विलासी लोग

धर्म के इन्ही शृगारपरक रूपो की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमे उनके अपने विलास-पूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग मे धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा विजेताओ का धर्म होने का लाभ था, परन्तु उनके अनुयायियो का भी धार्मिक जोश ठण्डा पड गया था। मुल्ला और मौलवी यद्यपि अब भी विभिन्न जल-वायु और देश-काल मे रची हुई कुरान की आयतो का कट्टरता से पालन कर रहे थे, 'हिफ्जे कलामुल्लाह' का अब भी उनको उतना ही आग्रह था, परन्तु मुसलमानो के राजनीतिक और नैतिक अध.पतन का प्रभाव इस्लाम पर भी पडे बिना नही रहा था। उसमे भी रूढिवाद का प्रचार बढ रहा था। मुसलमान जनता की आत्मिक तृप्ति कुरान को हिफ्ज करने भर से नही होती थी, क्योकि हिन्दू-शास्त्रों की भाँति कुरान भी सामयिक जीवन के प्रवाह से दूर पड गया था। रीति-काल मे धार्मिक आभिजात्य की यही दशा थी।

इनको छोड़कर अब दूसरे बृहत् वर्ग पर आइए। यह अशिक्षित जन-समुदाय का वर्ग था। ये लोग स्वभावतः अन्ध-विश्वासी थे। इनकी भक्ति-भावना धर्म के वाह्यागो तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत-तीर्थ आदि मे विश्वास करते थे। सन्तों और पीरो की सब प्रकार की अन्ध-परम्पराओं और रीतियो का पालन करते थे। जादू-टोने मे भी इन्हें प्रगाढ़ विश्वास था। झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री-पुरुष पीरो के तकियो पर अपनी मुरादे लिये पहुँचा करते थे और ये लोग, जो अधिकांश मे रँगे हुए सियार होते थे, उनको फर्जी तावीज वगैरह देकर खूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य-पूजा भी अपने विकृत रूप मे वर्तमान थी। हिन्दू-मुसलमान दोनो ही अपने गुरुओ और पीरों को ईश्वर का दर्जा देने लग गए थे। डॉक्टर सरकार लिखते हैं कि हिन्दुओ का अन्ध-विश्वास यहाँ तक बढ़ गया था कि वे प्रत्येक विशाल-वाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार मानकर पूजना शुरू कर देते थे। इतना होने पर भी बहुत बडी संख्या राम-कृष्ण के ही उपासको की थी। राम और कृष्ण की जीवन-गाथा ही इनके लिए धर्म-ग्रन्थ थी। वर्ष मे राम-लीला नियमित्त रूप से हुआ करती थीं और विभिन्न पर्वो पर उत्सवो तथा कथा-कीर्तनो का आयोजन किया जाता था जिनमे 'रामचरितमानस' की कथा होती थी, सूरदास और मीरा के पद गाये जाते थे। मुसलमानो में उर्स होते थे, जहाँ सूफियाना गजले और कव्वाली गा-गाकर वे लोग अपनी भक्ति-भावना प्रकट करते थे। इस प्रकार जनता की धर्म-भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही लौकिक सकटो में ग्रस्त नर-नारियो के हृदय मे परलोक की आशा उत्पन्न करके उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा उसका जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता मे अन्ध-विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी, क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्य-प्रति के संघर्ष मे था। यह

परम्परा का पालन-मात्र नही था, जीवन की आवश्यकता थी।

इन दोनो धर्मो के अतिरिक्त एक तीसरा उदार वर्ग भी था जो शास्त्रीय कट्टरता और रूढ़िवाद से दूर रहकर हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक समान आधार पर संयुक्त कर रहा था। यह वर्ग कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों की परम्परा का अनुयायी था। इनका मूल सिद्धान्त था ईश्वर की अविभाज्य एकता, जिसका आधार हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानो का एकेश्वरवाद था। ईश्वर की एकता का स्वाभाविक परिणाम है सृष्टि की एकता—अर्थात् जीव-मात्र की समानता। ईश्वर के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह उसकी सृष्टि के जीव-मात्र से समान प्रेम करे। अतएव हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र का अन्तर मिथ्या है। ससार दु खो की खान है। इसलिए संसार से विमुख होकर परमार्थी को ईश्वर से प्रेम करना चाहिए। जीवन मे त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। तत्त्व-चिंतन और आतरिक भक्ति से परमात्मा मिलता है, बाह्य आचारो से नही। स्वभावत. ये लोग व्रत, तीर्थ, रोजा, नमाज, जात-पाँत, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और शास्त्रीय धर्म की अन्य विधियो का तिरस्कार करके केवल आत्म-शुद्धि को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इनके लिए निर्गुण ब्रह्म में लीन होना ही मानव-जीवन की सार्थकता थी। प्रेम का मार्ग बडा कठिन है, उस पर चलना गुरु के बिना असम्भव है। अतएव सन्त गुरु की इन सम्प्रदायों मे बड़ी महिमा थी। इन सन्तों ने हिन्दुओं से योग और सूफियों से प्रेम की भावना ग्रहण की थी।

हिन्दुओ मे इस प्रकार के अनेक पंथ वर्तमान थे जिनमें सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि सत्रहवी शताब्दी मे प्रमुख थे। धरनीदास और प्राणनाथ के अनुयायियों का प्रचार-काल अठारहवी शताब्दी के अन्त तक था। इनमे जगजीवन, बुल्ला साहब, चरनदास और उनकी दो शिष्याएँ सहजोबाई और दयाबाई अपने पवित्र जीवन और मधुर बानियो के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके बाद दूलनदास, भीखा, पलटूदास आदि हुए, जो उन्नीसवी शताब्दी तक जीवित रहे। ये पथ भेद-भाव से रहित होने के कारण पूर्णतः सुसंगठित थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी शक्ति का परिचय भी दे सकते थे, जैसा कि औरंगजेब के समय मे सतनामियों ने किया। इनमे से काफी ऐसे भी थे जो सयत रूप मे सामाजिक जीवन व्यतीत करते थे। घर-बार छोडकर जंगल मे धूनी रमाना उन्हे प्रिय नही था। ये विवाहित थे और स्त्री-पुरुष दोनो को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग मे से उद्भूत होने के कारण इनमें सामाजिक मिथ्याचार नही था। इसलिए उपेक्षित जनता पर इनका अधिक प्रभाव था। लेकिन धीरे-धीरे सम्पन्न व्यक्तियों के दीक्षित होने मे इनमे भी गद्दियाँ बनने लग गई थी, जिससे इनमे भी विलास-वैभव की तृष्णा उत्पन्न हो चली थी।

मुसलमानो मे भी इनके समानान्तर कई सिलसिले थे, जिनमे शेख मुइनुद्दीन

चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला सब से अधिक प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त निजामिया, नक्शबंदियाँ कादिरिया, शत्तारिया इत्यादि और भी सिलसिले काफी लोकप्रिय थे। हिन्दुओ के पंथो और मुसलमानो के इन सिलसिलों मे बहुत-सी बाते मिलती-जुलती थीं—"दोनों का विश्वास था कि ईश्वर एक है, पर उसके अनेक नाम है। दोनो समझते थे कि बिना किसी धार्मिक शिक्षक (गुरु या पीर) की शरण लिए मुक्ति प्राप्त करना कठिन है। आत्मा को पहचानने के लिए वे एक ही प्रकार के तरीक़ो का व्यवहार करते थे। दोनो ध्यान और समाधि के साधन और इस मार्ग के अनुभव और अवस्थाएँ एक समान जानते थे। दोनों कपट, दिखावटी कर्म-काण्ड और पूजा-पाठ को, आदमी-आदमी के भेदों को, वह जन, धन या स्थिति चाहे किसी पर निर्भर हों, बुरा कहते थे। शांति और तपस्या के जीवन का एकमात्र आदर्श उन्हे आकर्षित करता था। दोनो के हृदयों मे इस ससार के त्याग की परमाकांक्षा थी और दोनों का उद्देश्य ईश्वर के प्रेम का जीवन था। यह पवित्र धर्म मनुष्यो की आत्मा और चरित्र को ऊँचा उठाता था। इसके प्रभाव से समाज मे सब वर्णो और जातियो के लोगो की स्वतन्त्रता और बराबरी की समान इच्छा जागृत हुई। मनुष्य का स्त्रियों के प्रति भाव बदलने लगा, बहुत-से सुधार के कार्य उठाए गए और हिन्दुओं-मुसलमानों में निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ।"[1]

फिर भी समग्र रूप से विचार करते हुए, इन पंथ-प्रवर्तकों को विशेष महत्त्व देना अनुचित होगा, क्योंकि इनमे से कोई भी मौलिक प्रतिभावान नही था। इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तो की क्षीण पुनरावृत्ति मात्र थे। इनमें से किसी ने भी तत्त्व-दर्शन मे कोई मौलिक योग नही दिया और न संत-साहित्य की विशेष श्री-वृद्धि ही की। कबीर की क्रांतदर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दर-दास की विद्वत्ता इनमे दुर्लभ थी। ये लोग तो बानियो के प्रचारक-मात्र थे—स्रष्टा नहीं। प्रगति और सुधार का वह दुर्दम उत्साह, आहत आत्मा की वह पुकार, जिसने १५वीं शताब्दी मे सामाजिक और धार्मिक क्रांति उपस्थित कर दी थी, इस पतन-काल में सम्भव नही थी।

बौद्धिक ह्रास—इस समय हिन्दुस्तानियो का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था। हिन्दुओं के लिए पृथ्वी और स्वर्ग दोनों का ही मार्ग बन्द था, उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए कोई क्षेत्र नही था। युग-युग की दासता ने उनके नैतिक बल के साथ बौद्धिक प्रतिभा भी नष्ट कर दी थी। 'रामचरितमानस' के स्थान पर अब 'ब्रज-विलास' की ही रचना हो सकती थी। सूर और नन्ददास की प्रतिभा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, परन्तु उनकी शृङ्गारिकता का निर्जीव अनुकरण अब भी [illegible]

१. डा० ताराचन्द—'हिन्दुस्तान के निवासियों का [illegible] इतिहास' पृ० [illegible]

उत्साह के साथ हो रहा था। कृष्ण-काव्य की दिव्य प्रेरणा के स्थान पर अब स्थूल ऐन्द्रियता या निष्प्राण अलंकरण ही शेष रह गया था। अयोध्या के भक्त कवि राम का भी इसी रूप में अत्यन्त शृङ्गारिक चित्रण कर रहे थे। कबीर का स्थान उधर पलटू या भीखा साहब ने ले लिया। संस्कृत-साहित्य का विकास तो जैसे सर्वथा अवरुद्ध-सा ही हो गया था। पण्डितराज जगन्नाथ के उपरांत साहित्य-शास्त्र में केवल 'नजराजयशोभूषण' का नाम मिलता है, जो कि कवि-शिक्षा का एक अत्यन्त साधारण ग्रंथ है। काव्य में जो दो-ग्रंथ मिलते हैं, उनमें चमत्कार-क्रीडा और घोर-शृङ्गारिकता की प्रवृत्ति ही शेष है। मोरोपन्त की 'मन्त्र-रामायण' शाब्दिक क्रीडा का और लक्ष्मणाचार्य की 'चण्डी-कुच-पचाशिका' घोर शृङ्गारिकता का निकृष्ट उदाहरण है।

मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बड़े वेग से हो रहा था। अकबर-जैसे उदाराशय सम्राट् के सामने सभी को आत्माभिव्यक्ति का समुचित अवसर मिलता था। दूसरे, मुसलमान हिन्दुस्तान को ही अपना देश समझने लगे थे। अतएव उनकी सभ्यता, संस्कृति और उनके साथ उनकी प्रतिभा का यहाँ की उर्वरा भूमि में सहज विकास हो रहा था। परंतु औरंगजेब की संकुचित मनोवृत्ति ने एक ओर तो मुसलमानों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी कि उनकी मातृभूमि अरब ही है—अरब और फारस की संस्कृति ही उनकी संस्कृति है, दूसरी ओर उनकी कठोर अहंवादी नीति ने अपने पुत्रों तक को व्यक्तित्व-विकास का अवसर नहीं दिया था—अमीर-उमराओं की तो बात ही क्या ? उस समय प्रतिभा का विकास राज-दरबार के आश्रय में ही संभव

है। औरंगजेब के बाद तो मुसलमानों की स्थिति बिगड़ती ही गई। उनकी विलास-जीर्ण जाति शताब्दियों बाद कहीं मीर और गालिब पैदा करने में समर्थ हो सकी।

कला की प्रवृत्ति

मुगल-वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कलाप्रिय मुगल सम्राटों ने फारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुगल शैली का निर्माण किया, जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं और जवाहरात—सोने-चाँदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी में ऐश्वर्य का उल्लास है।

स्थापत्य-कला—शाहजहाँ के राजत्व-काल में स्थापत्य-कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँच गई थी। उसके दृढ़ रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरा में मोती मस्जिद और ताजमहल का निर्माण किया और अपने राजत्व-काल के उत्तरार्ध में दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु ताजमहल और पृथ्वी के एक-मात्र स्वर्ग दीवाने-खास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है। अकबर की इमारतों के विराट् सौंदर्य के विपरीत, शाहजहाँ की इमारतों का सौंदर्य सूक्ष्म-कोमल है। एक की कला में यदि महाकाव्य (रामचरितमानस की विराट् गरिमा और दिगंत विस्तार है, तो दूसरे की कला में अलंकृत गीत-काव्य (बिहारी के दोहों) की रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र कला यहाँ चरम समृद्धि को पहुँच गई है—सोने के रंग का मुक्त प्रयोग है, मणियों का जड़ाव और नक्काशी की सूक्ष्मता अद्भुत है। शाहजहाँ के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रण-कला की विशेषताएँ अधिक है। ताज मूर्ति-कला की कृति ही अधिक है और दीवाने-खास चित्रण-कला की। औरंगजेब के सिंहासनारोहण के उपरांत मुगल साम्राज्य के क्षय के साथ ललित कलाओं की भी दुर्दशा होने लगी। औरंगजेब सर्वथा अरसिक धर्म-प्राण-व्यक्ति था। वह ललित-कलाओं को—लालित्य मात्र को—जीवन का पतन समझता था, अतएव शुरू से ही उसने उनके खिलाफ जिहाद बोल दिया। उसने धार्मिक जोश में आकर कई मंदिरों को, जो हिंदू-स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे, धराशायी करा दिया—उसकी कर्तव्य-कठोर आत्मा में सौंदर्य के प्रति जैसे कोई मोह ही नहीं था। वास्तु-कला के विरुद्ध यद्यपि उसे कोई धार्मिक विद्रोह नहीं होना चाहिए था, परन्तु फिर भी उसके समय में उल्लेख-योग्य दो मस्जिदें और एक मकबरा ही बन पाया। इनमें लाहौर की मसजिद अपेक्षाकृत सुन्दर है। परन्तु कला की दृष्टि से वह जामा मसजिद

का, जैसा कि फर्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण-मात्र है। दूसरी मस्जिद जीनतुन्निमा की बनाई हुई दिल्ली मे है। स्वय सम्राट् और उसकी बेगम के मकबरे भी बहुत साधारण है, उनमे मुगल-कला की अधोगति स्पष्ट है। 'उनमे एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजाडपन-सा निदर्शित होता है।' औरगजेब के उपरांत मुगल सम्राटो के पास इतना कोष ही नही था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाह आलम द्वितीय ने गुजरात मे कुछ इमारते बनवाई जिनमे जैन शैली की अनुकृति है। अतएव, अठारहवी शताब्दी मे मुगल-कला को थोडा-बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबो के दरबारो में ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारते निष्प्राण एव सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन मात्र रह गई है। इनमे किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नही है—केलव शैलीगत विलास का पिष्टपेषण मात्र है। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डा० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिन्दुओ के सरक्षण मे भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नही की, फिर भी उनके मदिरो की कला इतनी निष्प्राण और हीन नही है। राजपूताना की इमारतो मे इसी समय के आम्बेर-स्थित जयसिह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्व रखते है। दीग के भवनो मे यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नही है परतु उनके अवयवो मे अलकरण का सौदर्य असदिग्ध है। इस समय मुसलमानो के प्रभाववश हिदू राजा भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनाने लग गए थे। इस समय मे बनी हुई राजा सग्रामसिह, सूरजमल और छत्रसाल एव उनकी रानी की छतरियाँ उल्लेख-योग्य है। उन्नीसवी शताब्दी मे सिखो ने कुछ सुन्दर इमारते बनवाई—इनमे सबसे सुन्दर अमृतसर का मन्दिर है। परन्तु उसका महत्त्व जितना प्रदर्शन के कारण है, उतना कला की दृष्टि से नही। उस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है, सिखो के दृढ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरात लगभग दो शताब्दियो तक स्थापत्य का इतिहास प्राय अनुकृत और निर्जीव कलाकृतियो का अनुलेखन मात्र है। उसकी एक ही विशेषता है-निर्जीव तथा मौलिक वैशिष्ट्य-हीन पिष्टपेषण, जिसमे कही-कही विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्र-कला — स्थापत्य की भाँति मुगल चित्र-कला भी फारसी और भारतीय कला के सयोग से निर्मित है। उसमे फारसी चित्र-कला की कडी रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवो की अलंकृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया-प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रगो की चटक का सुचारु सम्मिश्रण है। "चीनी चित्र-कला की विशेषता रही है रेखा, फारसी की रेखा और रग, और भारतीय कला मे रंगो का ही आधिपत्य रहा है।"

का, जैसा कि फर्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण-मात्र है। दूसरी मस्जिद जीनतुन्निसा की बनाई हुई दिल्ली मे है। स्वय सम्राट् और उसकी बेगम के मकबरे भी बहुत साधारण है, उनमे मुगल-कला की अधोगति स्पष्ट है। 'उनमे एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजाडपन-सा निदर्शित होता है।' औरगजेब के उपरांत मुगल सम्राटो के पास इतना कोप ही नही था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाह आलम द्वितीय ने गुजरात मे कुछ इमारते बनवाई जिनमे जैन शैली की अनुकृति है। अतएव, अठारहवी शताब्दी मे मुगल-कला को थोडा-बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबो के दरबारो मे ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारते निष्प्राण एव सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन मात्र रह गई है। इनमे किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नही है—केलव शैलीगत विलास का पिष्टपेपण मात्र है। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डा० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिन्दुओ के सरक्षण मे भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नही की, फिर भी उनके मदिरो की कला इतनी निष्प्राण और हीन नही है। राजपूताना की इमारतो मे इसी समय के आम्बेर-स्थित जयसिह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्व रखते है। दीग के भवनो मे यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नही है परतु उनके अवयवो मे अलकरण का सौदर्य असदिग्ध है। इस समय मुसलमानो के प्रभाववश हिंदू राजा भी अपनी छतरियाँ और समाधियाँ बनाने लग गए थे। इस समय मे बनी हुई राजा सग्रामसिह, सूरजमल और छत्रसाल एव उनकी रानी की छतरियाँ उल्लेख-योग्य है। उन्नीसवी शताब्दी मे सिखो ने कुछ सुन्दर इमारते बनवाई—इनमे सबसे सुन्दर अमृतसर का मन्दिर है। परन्तु उसका महत्त्व जितना प्रदर्शन के कारण है, उतना कला की दृष्टि से नही। उस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है, सिखो के दृढ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरात लगभग दो शताब्दियो तक स्थापत्य का इतिहास प्राय अनुकृत और निर्जीव कलाकृतियो का अनुलेखन मात्र है। उसकी एक ही विशेपता है-निर्जीव तथा मौलिक वैशिष्ट्य-हीन पिष्टपेपण, जिसमे कही-कही विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्र-कला – स्थापत्य की भाँति मुगल चित्र-कला भी फारसी और भारतीय कला के सयोग से निर्मित है। उसमे फारसी चित्र-कला की कड़ी रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवो की अलकृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया-प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रगो की चटक का सुचारु सम्मिश्रण है। "चीनी चित्र-कला की विशेषता रही है रेखा, फारसी की रेखा और रग, और भारतीय कला मे रगो का ही आधिपत्य रहा है।"

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, मुगल शैली मे फारसीपन की न्यूनता और भारतीयता की अधिकता होती गई। जहाँगीर का युग मुगल चित्र-कला का स्वर्ण युग है। इसमे आकर वह पूर्णतः भारतीय हो गई–विदेशी तत्त्व भारतीय तत्त्वो में घुल-मिलकर एक हो गए। परिणाम-स्वरूप मुगल चित्र-कला मे स्वाभाविकता, गति और सजीवता का समावेश हो गया। वह सम्राट् के अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन भी बन गई। वास्तव मे इस सम्राट् के रगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम चित्र ही था। पर्सी ब्राउन के शब्दो मे मुगल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। शाहजहाँ को स्थापत्य और मणि-माणिक से अधिक प्रेम था, चित्र-कला मे उसको विशेष रुचि नही थी। फलत उसकी समकालीन शैली मे मौलिक प्राणवत्ता और हार्दिकता की कमी है। यद्यपि उसमे हस्त-कौशल और नक्काशी अब भी पूर्ववत् बनी हुई है, परन्तु उसकी रचना या सर्जना मे किसी प्रकार का वैचित्र्य नही पाया जाता। हाँ, अलकरण की प्रवृत्ति कुछ और भी बढ़ गई है–स्वर्ण रग का प्रचुर प्रयोग किया गया है, सभी चित्रो मे सुन्दर चित्र-विचित्र फूल-पत्ते, पक्षी आदि से कढा हुआ हाशिया दिया गया है। कुल मिलाकर इस समय की चित्रकारी मे एक प्रकार की अतिशय परिपक्वता का भान होता है, जो अवनति की सूचना देती है।

जहाँगीर ने व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करके चित्र-कला मे जो जीवन की चेतना उत्पन्न कर दी थी, वह शाहजहाँ के दरबार के गभीर शिष्टाचार मे विलुप्त हो गई। शाहजहाँ राजसी शिष्टाचार की मर्यादाओ मे विश्वास करता था—अतएव चित्रकारो को दरबार के आतरिक जीवन मे प्रविष्ट होने की आज्ञा न थी। उनका प्रिय विषय दरबार का ऐश्वर्य ही था। विभूतिमान अमीरो की सभाओ, रत्न-जटित परदो, जरी के आतपत्रो और बहुमूल्य वस्त्राभूषणो आदि के अकन मे ही वे अपनी सारी कारीगरी खर्च कर देते थे। चित्रो मे अलकरण का इतना प्राचुर्य है—रगो का इतना सूक्ष्म प्रयोग है कि लोगो को प्राय यह भ्रम हो जाता है कि रगो के स्थान पर इन चित्रो मे मणियो के टुकडे ही जड दिए गए है। शाहजहाँ की प्रिय अलकरण-कला मणिकुट्टिम का इन पर स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त शबीह अर्थात् व्यक्ति-चित्रो का भी इस युग मे विशेष मान था। इन चित्रो मे ज्यामिति के रचना-प्रकारो तथा आलेखन की सूक्ष्मता और जकड़बन्दी है। ये चित्र प्राय व्यक्तियो की स्थिर मुद्राओ के है। उनकी रेखाएं और रंग-मिश्रण बडे बारीक है, इनमे एक प्रकार से मूर्ति-कला की ही विशेषता मिलती है। परन्तु इनमे जीवन की उष्णता का अभाव है और भाव-व्यञ्जना क्षीण है। इसकी मुख-मुद्राओ मे आन्तरिक स्फूर्ति और अभिव्यक्ति की सजीवता नही है और अन्तर के चित्र न होने के कारण व्यक्तित्व अथवा चरित्र के अध्ययन मे ये अधिक सहायक नही हो पाते। मुगल-शासन के पूर्वार्ध मे व्यक्ति-चित्र केवल सम्राट्,

उसके परिवार और दरबार के अमीरो के ही तैयार किये जाते थे। परन्तु साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण होने के पश्चात् राजाश्रय दुर्लभ होने लगा और उधर जनता मे इन चित्रो की माँग बढने लगी। परिणाम यह हुआ कि अठारहवी शताब्दी मे इनका व्यवसाय होने लगा और चित्रो के स्वतन्त्र अकन के स्थान पर स्टैन्सिल की सहायता से उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार की जाने लगी। यह कला के ह्रास की चरम सीमा थी। उससे वैशिष्ट्य की हानि हुई, जो इस पतन-काल का प्रमुख दोष है। यही बात पशु-पक्षियो के चित्रो मे है। मनोहर, मसूर आदि कलाकारो द्वारा अकित पशु-पक्षी भी मुगलो के उपवन-उद्यानो की शृगार-शोभा के साधन मात्र प्रतीत होते है। ऐसा मालूम पड़ता है मानो वे जान-बूझकर चित्र खिचवाने के लिए तैयार होकर खडे हुए है। मुक्त आकाश मे पख खोलकर उडते हुए अथवा उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियो के चित्र अप्राप्य है। सक्षेप मे, श्री रायकृष्णदास के शब्दो मे--"अब चित्रो मे हद से ज्यादा रियाज, महीनकारी, रङ्गो की खूबी, तथा शान-शौकत एव अग-प्रत्यगो की लिखाई, विशेषत. हस्त-मुद्राओ मे बडी सफाई और कलम मे कही कमजोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब-कायदो की जकडबन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रो मे भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।"[१]

औरगजेब का राजत्व-काल अन्य कलाओ की भाँति चित्र-कला के भी अध.पतन का काल है, उसने अपने सामने बीजापुर के असर महल और अकबर के मकबरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था। फिर भी व्यक्ति-चित्रो की अपेक्षा उसको भी रही। स्वय औरंगज़ेब के ही अनेक चित्र वर्तमान है, जो उसकी सम्मति के बिना नही खिचे होगे। इसके अतिरिक्त वह अपने नजरबन्द कुटुम्बियो के स्वास्थ्य के विषय मे जानकारी प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति-चित्रो का अकन कराता था जिससे उनको दिए हुए पोस्त के प्याले का प्रभाव उसे नियमित रूप से मालूम होता रहे। औरगजेब के उपरान्त रहा-सहा मुगल वैभव भी नष्ट हो गया। उसके उत्तराधिकारियो का नैतिक और भौतिक ह्रास तत्कालीन चित्रो मे व्यक्त है। दिल्ली का कोष अब कलाकारो को अपने आसपास केन्द्रित रखने मे असमर्थ था। अतएव वे अवध, मुर्शिदाबाद, और हैदराबाद के नवाबो के आश्रय मे पहुँच गए और इस प्रकार स्थानीय प्रभावो के अनुसार मुगल शैली की दिल्ली की कलम, लखनऊ की कलम आदि कई शाखाएँ हो गई। इस समय के चित्रो मे कारीगरी, महीनकारी और सजावट के होते हुए भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उसमे बस शृगारिक विलासिता की ही प्रधानता है। अन्त पुर के राग-रग से सम्बन्ध रखने वाले शृगारिक चित्र सबसे ज्यादा इसी युग मे अङ्कित किये गए।

१ भारत की चित्र-कला

लेकिन इस समय चित्र-कला इन दरबारो से बाहर उन्मुक्त वातावरण में भी काफी फल-फूल रही थी। मुगल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अब भी लोक-जीवन से प्रेरणा पाकर जीवित थी। यह सर्वथा हिन्दू शैली थी। इसका सम्बन्ध मूलत अजता की कला से ही था। मुगल शैली सर्वथा भौतिक और राजसी थी, राजस्थानी शैली का आधार आध्यात्मिक था और उसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क था। उसकी सृष्टि जनता ने ही अपने सुख-दु ख की अभिव्यक्ति, आनन्द-विनोद के निमित्त की थी, परन्तु बाद मे मुगल-शैली से आदान-प्रदान होने पर इसमे राजसी तत्त्वो का समावेश भी हो गया और जयपुर की कलम मे जयपुर की दरबारी सस्कृति की ही भाँति काफी फारसीपन आ गया। राजस्थानी चित्र-कला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओ की मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव में कलाओ की मूल आत्मा एक ही है, अभिव्यक्ति मात्र का अन्तर है। गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि। हमारे शास्त्रो मे रसो और रागो के देवता और वर्ण आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रो मे कुछ तो उसके सहारे और कुछ अनुकूल ऋतुओ का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रग मे चित्रित किया गया है। रागमाला के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य प्रिय विषय है—कृष्ण-लीला, नायिका-भेद और बारहमासा। कृष्ण-चरित्र—विशेषकर रासलीला—का जनता मे उस समय काफी प्रचार था, परन्तु जनता की इस मनोवृत्ति मे धार्मिकता नही थी, शृगारिकता ही थी। राधा-कृष्ण लौकिक प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका के प्रतीक मात्र थे। बुन्देलखड मे पहले केशव के छन्दों को चित्रबद्ध किया गया, फिर बाद को दतिया राज्य मे राजस्थानी शैली की शाखा बुन्देलखण्डी शैली मे देव के 'अष्टयाम', बिहारी की 'सतसई' और मतिराम के 'रसराज' की चित्र-व्यञ्जना हुई। इनका मुख्य रस शृगार ही है। शैली मे आलकारिकता की प्रधानता है और आँखो के अंकन मे अतिशयोक्ति का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इन चित्रों मे भावाभिव्यक्ति शिथिल है, पात्रो की मुख-मुद्राएँ भाव-शून्य है, परन्तु स्त्री-चित्रो मे आँखे रसीली है। जैसा कि डॉ० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है ये चित्र हिन्दी-साहित्य के अध्येता के लिए एक विशेष महत्त्व रखते है। इनकी और हिन्दी के रीति-साहित्य की आत्मा एक ही है।

राजस्थानी शैली की ही समवर्ती एक दूसरी शैली भी इस युग मे वर्तमान थी—कॉगडा-शैली। विदेशी कला-मर्मज्ञो ने इन दोनो को राजपूत शैली की दो शाखाएँ माना है, परन्तु कतिपय आधुनिक विशेषज्ञ इस वर्गीकरण से सहमत नही है। कॉगडा-शैली मूलत भावात्मक शैली है। इसमे यथार्थता को भाव के आश्रित रखा गया है। अतएव इसमे उन्मुक्तता और हार्दिकता पूर्वोक्त दोनो शैलियो की अपेक्षा कही अधिक है। इस

शैली का झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। इन चित्रों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इनमे प्राय सभी रसो और भावो की अभिव्यञ्जना मिलती है—"देवताओं का ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गा सप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य ; ऐतिहासिक गाथा, लोक-कथा, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एव अन्य साधारण कवियो की रचनाओ से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नही जिसे उन्होने छोडा हो।"[1]

स्त्री-सौदर्य के चारु अकन मे ये कलाकार अपना जोड नही रखते। मीनाक्ष-चित्रण का तो एक नवीन आदर्श ही इन्होने प्रस्तुत किया है। रात्रि के रमणीय वातावरण मे अथवा मेघाच्छन्न आकाश की छाया मे प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार, अथवा थके हुए पथिको की विनोद-वार्ता तथा जगल के दृश्य अद्भुत है। इनमे छाया-प्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है वैसा मुगल चित्रो मे दुर्लभ है। आलोचको ने इस शैली के विकास को भारतीय चित्र-कला का परमोत्कर्ष मानते हुए, इसकी मौलिकता, अभिव्यजना और सूक्ष्म कारीगरी की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है।

इस प्रकार रीति-युग मे चित्र-कला की दो प्रमुख धाराएँ थीं। एक राजसी थी जो जन-जीवन से स्वाभाविक पोषण न पाकर केवल राज्याश्रय पर अवलम्बित थी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण यह शैली ह्रासोन्मुख थी। दूसरी जन-प्रिय थी जो तत्कालीन जन-समूह की ही भाँति अब भी अपनी चेतना बनाये हुए थी, इसमे जीवन की ताजगी थी। इस युग के काव्य की रीतिवद्ध और रीतिमुक्त शृंगारिक प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त दोनो धाराओ के ही समानान्तर बढ रही थी।

संगीत—रीति-युग मे सगीत-कला की स्थिति किसी प्रकार भी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। कला के अन्य रूपो की भाँति यहाँ भी मौलिकता का सर्वथा अभाव मिलता है। शाहजहाँ तक तो फिर भी कुशल रही—स्वय शाहजहाँ को संगीत का परिष्कृत ज्ञान था। उसके समय मे तानसेन के वशज लालखाँ और हिन्दू कलावन्त जगन्नाथ ने तानसेन आदि के सगीत मे सूक्ष्मताओ की सृष्टि करते हुए अलकरण की श्री-वृद्धि की। औरगजेब का युग सगीत के चरम अपकर्ष के लिए प्रसिद्ध है। बेचारा संगीत भी औरगजेबी जुल्म का शिकार हुआ। औरगजेब ने दिल्ली-दरबार से सगीत का सर्वथा बहिष्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसका पूर्णतया विकेन्द्रीकरण हो गया। कलावत दिल्ली से निराश होकर राजाओ और नवाबो की शरण मे जाने लगे। इस समय केवल एक ही सगीताचार्य का नाम उल्लेखनीय है—वह है भावदत्त, जो राणा अनूपसिह के आश्रय मे रहता था। उसने समस्त रागो को बीस ठाठो मे विभक्त करते हुए "कनकाङ्गो" को शुद्ध मात्रा माना है। औरगजेब के उपरान्त मुहम्मद शाह रगीले

१. रायकृष्णदास—'भारत की चित्र-कला'

ने एक बार फिर सगीत की मृतक आत्मा मे प्राण फूंकने का प्रयत्न किया. और दिल्ली का श्री-हत दरबार अदारग और सदारंग के खयालो से गूंज उठा। इसी समय शोरी मियाँ ने टप्पा-गायन प्रचलित किया "जिसमें गले से दानेदार तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।" सर सौरेन्द्र मोहन टागोर का कथन है कि इन दो प्रसिद्ध गायको के अतिरिक्त मुहम्मदशाह के समय मे हिन्दू और फारसी शैलियों के सम्मिश्रण से और भी कतिपय मधुर सगीत-शैलियो और ध्वनियो की सृष्टि हुई, जिनमे से अधिकांश शृंगारिक है। इसी शताब्दी मे श्रीनिवास ने 'रागतत्त्व-विबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत मे मध्यकालीन सगीत के सबसे अन्तिम ग्रन्थकार है॥ दक्षिण मे मराठा राजा तुलजेन्द्र भौंसले (स० १८१०-१८४४) ने इस कला की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और 'सगीत-सारामृतम्' और 'राग-लक्षणम्' नाम की दो पुस्तकें लिखी। उसके बाद विष्णु शर्मा ने 'अभिनव-रागमजरी' ग्रथ मे तत्कालीन हिन्दुस्तानी सगीत का विवेचन किया।

उत्तर भारत मे सगीत को आश्रय देने वाले अब राजा, रईस और नवाब ही रह गए थे. जो उसको विलास का एक उपकरण मानते थे। संवत् १८७० के लगभग पटना के एक रईस मुहम्मद रज़ा ने 'नगमाते-आसकी' नामक संगीत की पुस्तक लिखी, जिसमे उन्होंने बिलावल को शुद्ध ठाठ मानते हुए एक नए ढग से रागों का वर्गीकरण किया, और स्पष्टतया 'राग-रागिनी पुत्र' आधार को असगत माना। इसके आस-पास ही जयपुर के राजा प्रतापसिह ने हिन्दुस्तानी संगीत पर प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपने राज्य मे एक बृहत् सगीत-समारोह किया, जिसके परिणामस्वरूप देश के प्रसिद्ध आचार्यों के मतो का सग्रह करते हुए 'संगीत-सार' ग्रन्थ का सम्पादन हुआ। यह ग्रथ-सकलन अवश्य अच्छा है, परन्तु विषय-विवेचन के विचार से अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। इससे कही अधिक महत्व है 'राग-कल्पद्रुम' का, जिसको कि सवत्सर १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास ने चार खण्डो मे प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ को तत्कालीन गेय पदों का विश्वकोष समझना चाहिए।

अवध की नवाबी भी इस समय विलास मे गर्क थी। अवध के अतिम अधिपति वाजिदअली शाह को कला-विकास के सभी उपकरणो से प्रेम था। सगीत उनकी रसिक-मण्डली का प्रधान अलकरण था। वे स्वय अच्छे सगीतकार थे। सगीत की रसीली शैली ठुमरी उन्ही का आविष्कार है, जो कि डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दो मे भारतीय सगीत-प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण रूप है। इस प्रकार अन्य कलाओं की भाँति सगीत के क्षेत्र मे भी विराट् और गम्भीर तत्व का अभाव, तथा एक प्रकार की स्त्रैण शृङ्गारिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीति-युग मे संगीत की प्रवृत्ति भी मौलिक उद्भावना की ओर न होकर अलकरण और रसीलेपन की ओर ही थी।

: २ :

रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार

रीति-शास्त्र का आरम्भ—भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी-न-किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उनके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है : सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानस-जात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर उन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त करके अपने-अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीति-ग्रंथ लिखे—

'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्ष. समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभ, आनुप्रासिकं प्राचेतायनः, यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेषं शेषः वास्तवं पुलस्त्य., औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशर., अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेर, वैनोदिकं कामदेव., रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वर, दोषाधिकरणं धिषण, गुणौपादानिकमुपमन्यु, औपनिषदिकं कुचमार इति।'[1]

विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टत सगति बैठाने को गढ़े गए मालूम पड़ते हैं परन्तु कुछ नामों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। जैसे 'कामसूत्र' में औपनिषदिक के व्याख्याता कुचमार और 'साम्प्रयोगिक' के व्याख्याता सुवर्णनाभ के नाम आते हैं। 'रूपक' या 'नाट्य-शास्त्र' पर भरत का ग्रंथ तो किसी-न-किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम के काम-शास्त्र, गीत-नृत्य और तंत्र-सम्बन्धी ग्रंथों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु इस पर उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीति-शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

वेद-वेदांग—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोष वेद हैं। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वाणी के रस से तो स्पष्टत अभिज्ञ थे ही इसमें कोई सन्देह नहीं, इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंद-रचना आदि के सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन और

१. काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय

'उपमा' शब्द का प्रयोग भी वेदो मे मिलता है। परन्तु साहित्य-शास्त्र का निश्चित आरम्भ वेदो मे ढूंढना क्लिष्ट-कल्पना-मात्र होगी। वेदो के अतिरिक्त वेदाग, सहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय मे मौन है।

व्याकरण-शास्त्र—भारत का व्याकरण-शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव मे भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि ग्रन्थ है 'निरुक्त' और 'निघण्टु'। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदो का विवरण दिया है; जैसे भूतोपमा, जिसमे उपमित उपमान बन जाता है, रूपोपमा, जिसमे उपमित और उपमान मे रूप-साम्य होता है, सिद्धोपमा, जिसमे उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमे साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दो का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरांत पातञ्जलि का 'महाभाष्य' भी इन रूपो की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव मे व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलकरण के जो सिद्धात काव्य-शास्त्र में स्थिर किए गए, उन पर व्याकरण के सिद्धातो का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धात व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धात से ही ग्रहण किया गया है।

दर्शन—व्याकरण के उपरात काव्य-शास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धातो का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धातो से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियो—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना का सकेत न्याय-शास्त्र के शब्द-विवेचन मे मिलता है। नैयायिको के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनो का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थो मे विभक्त किया है। शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध मे 'न्याय' और 'मीमासा' दोनो मे शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव मे एक प्रकार से 'न्याय' और 'मीमासा' से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए। इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद 'साख्य' के परिणामवाद से बहुत दूर नही है—जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ "उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है।" इससे अधिक स्पष्ट है वेदान्तियो के मोक्ष-सिद्धान्त का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से प्राप्त नही होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध-बुद्ध रूप है, जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप मे अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु यह वास्तव मे सकेत अथवा अनुमान-मात्र है, इनसे काव्य-शास्त्र

की उत्पत्ति के विषय मे कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ—निदान काव्य-शास्त्र का वास्तविक आरंभ हमे दर्शन और व्याकरण के मूल-ग्रथों की रचना के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डॉ० सुशीलकुमार डे, डॉ० काणे आदि विद्वानो का मत है कि ईसा की पहली पॉच शताब्दियो में ही उसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रंथ और कालिदास का अलंकृत काव्य आदि सभी इसी ओर संकेत करते है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' का मूल-रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यत आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते है। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन् के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन का और दण्डी ने कश्यप आदि का, परतु अभी तक इनके ग्रथ उपलब्ध नहीं है। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरात काव्य और काव्य-शास्त्र दोनों ही समृद्ध होते गए। काव्य-शास्त्र में क्रमश: अनेक वादों और संप्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमे से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस-संप्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस-सम्प्रदाय ही आता है।

रस-सम्प्रदाय

रस शब्द का अर्थ और इतिहास—रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दो मे से है। लोक मे यह शब्द मुख्यतः चार विभिन्न रूपो मे प्रचलित है—१. पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; २. आयुर्वेद का रस, ३. साहित्य का रस, और ४. इसी से मिलता-जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य रस मे रस से तात्पर्य है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़कर निकाले हुए द्रव का, जिसमे किसी-न-किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनों अंग (अ) निचोड, और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते है। आयुर्वेद में रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य मे रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष-रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द। व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—'रस्यते इति रसः', जो आस्वादित किया जाय वह रस है—'रस आस्वादनस्नेहयोः।' व्याकरण मे इसकी व्युत्पत्ति और भी है 'सरते इति रस' अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस मे द्रवत्व और बहने का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस में दो विशेषताएँ मिलती है - द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों मे स्वाद-आनन्द का गुण तो स्पष्टत. सर्वसामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा। द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्त्व का आशय भी प्रायः किसी न किसी रूप में

निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदो मे स्पष्ट रूप से मिलता है—**'दधानः कलशे रसम्'**[1]। यहाँ रस से तात्पर्य सोम-रस का है। अन्य वनस्पतियो के द्रव, दुग्ध और जल के अर्थ मे भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी रस शब्द वेदों में आता है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे निश्चित रूप से रस का प्रयोग मधु के अर्थ में हुआ है—**'रसो वै मधु'**। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र **'रसो वै सः।' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'**[2] मे रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहाँ पर प्राण-तत्त्व (सार) और स्वाद दोनों अर्थो का सम्मिश्रण हो जाता है—परमात्मा रस है और रस अर्थात् चिदानन्द रूप है—**'रसः सार. चिदानन्दप्रकाश',** जिसको प्राप्त करके आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋक्, यजु और साम की ऋचाओ की सृष्टि हुई :

ऋचामेव तद्रसेन···
यजुषामेव तद्रसेन···
साम्नामेव तद्रसेन···[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणत्व सिद्ध करने मे श्रुति के इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव मे, जैसा कि डॉ० संकरन का मत है, यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप स्थिर करने में इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ मे रस का प्रयोग किया हो—"जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा मे सहज साक्षात्कार करके, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौंदर्य का सहज साक्षात्कार करके काव्यानन्द का अनुभव करता है।" परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था, यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदो में और उनके आधार पर कालान्तर मे दर्शनो मे रस रसना की ऐन्द्रिय अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

येन रूपं रसं······एतेनैव विजानाति।[4]
गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः।[5]

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पर्श त्वचा का, रूप नेत्र का, रस जिह्वा का,

---

१. ऋग्वेद ६,६३,१३
२. तैत्तिरीय उपनिषद् २,७,१
३. छान्दोग्य उपनिषद् ४,१७,४-६
४. कठोपनिषद् २,१,३
५. न्यायदर्शन १,१,१४

और गन्ध नासिका का। 'वैशेषिक दर्शन' मे २४ गुणो के अन्तर्गत रस के इस रूप का विवेचन मिलता है। 'न्याय' का भी मत है :

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा।
सहकारी रसज्ञायाः नित्यत्वादि च पूर्ववत्।

'रामायण' और 'महाभारत' मे रस शब्द के अर्थ मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा विकास नही हुआ। 'रामायण' मे रस का प्रयोग जीवन, रस (अमृत) पेय आदि साधारण अर्थों मे ही हुआ है—केवल विष के अर्थ मे उसका प्रयोग नया है, पर वह हमारे लिए अप्रासगिक है। 'महाभारत' मे भी वह जल, सुरा, पेय, गध आदि का पर्याय है 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गीता)—केवल दो-एक प्रयोग थोड़े नवीन है, जैसे काम और स्नेह के अर्थ मे।

इस प्रकार हम देखते है कि 'ऋग्वेद' से लेकर 'महाभारत' तक रस के लगभग अन्य सभी मुख्य-मुख्य अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी परन्तु साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी आविर्भूत नही हो पाया था।[1]

रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः;
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे।
(इति विश्वः)

—मे से 'शृंगारादौ' का अन्तर्भाव अभी रस मे नही हो पाया था, परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसमे सन्देह नही। वैसे तो 'वाल्मीकि रामायण' के साधारणत प्रचलित सस्करणो मे बाल-काण्ड के चतुर्थ सर्ग मे नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है :

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्
जातिभिः सप्तभिर्बद्धम्, तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥८॥
रसैः शृंगार-करुण-हास्य-रौद्र भयानकैः
वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥९॥

परन्तु बाल-काण्ड का यह अश निश्चय ही प्रक्षिप्त है। एकाध अत्यत विश्वासी विद्वान् को छोडकर प्राय सभी इस विषय में एकमत है।

इसके उपरात भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' है, जिसमे हमे रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है। भरत मे रस का इतना सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है और भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आर्या तथा अनष्टुप् छद देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उनसे पूर्व ही उसका

१. प्रसिद्ध कोशकार ब्लूमफील्ड एवं मोनियर विलियम्स के साक्ष्यानुसार।

शास्त्रीय और पारिभाषिक रूप, और शायद सख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है, काव्य नही। उन्होने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नही किया, वरन् (नाटक के) प्रेक्षक की भाव-प्रतिक्रियाओ का विश्लेपण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का सक्षिप्त इतिहास

यो तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई विशेप प्रमाण नही मिलता। भरत ने भी प्रधानता तो वास्तव मे रूपक को ही दी है। रस को तो उन्होने, जैसा कि मैं आरम्भ मे ही कह चुका हूँ, वाचिक अभिनय का अग मानकर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विपय मे भरत का ही सिद्धात सर्वमान्य है, अतएव उनको आद्याचार्य मानना अनिवार्य ही है। भरत के उपरात रस-सिद्धात अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यो ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलंकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस-सिद्धात का पहला विरोधी आचार्य था भामह, जिसने अलकार-सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलकार को काव्य की आत्मा मानते हुए रस का रसवत्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलकारो मे अतर्भाव कर दिया। भामह के अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट, जो सभी अलकारवादी थे। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलकारो के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य-रसिक दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' मे विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलकार को छोडकर रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव मे वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नही था, रस को उसने कातिगुण का मूल तत्त्व मानते हुए[1] उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। उद्भट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवत् आदि अलंकारो के अतर्गत ही, परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप मे किया। उसने संहिता नामक अलकार की उद्भावना की, जिसमें भाव और रस की शाति का भी अतर्भाव हो सकता था। रसवत्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलकारो का भी विवेचन उसका भामह और दंडी से पृथक् है। इसके अतिरिक्त कुछ पडितो का मत है कि उद्भट ने ही शात रस की उद्भावना की थी। उद्भट पर भामह और भरत दोनो का प्रभाव था। उद्भट के उपरात रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव मे अलकार, रीति तथा ध्वनि-रस-सम्प्रदायों के सगम-स्थल पर खडा हुआ है। उसने रसो को स्पष्ट रूप से अलकारो की दासता से मुक्त करते हुए विरोधी सिद्धातो को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न

१. दीप्तरसत्वं कान्तिः। का० सू० वृ० ३।२।१५

किया। उसने असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी।

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंस.
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥

—काव्यालंकार १५। २१

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण इन चार भागों में विभक्त किया।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा। काव्य-सिद्धान्त में इनकी प्रभुता वास्तव में इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस-सिद्ध कवियों को इनके विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने पड़े। कालिदास और भवभूति दोनों ने अपने समकालीन आलोचकों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दों में रस की प्रतिष्ठा की है। कालिदास ने स्पष्टत स्वीकार किया कि

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

—मालविकाग्निमित्र ११४

भवभूति तो वास्तव में रसावतार थे—उन्होंने काव्य में चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस में अन्य सभी रसों का अंतर्भाव किया। परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धान्तों के आगे सिर झुका दिया था। उदाहरण के लिए बाण जैसे रसज्ञ कवि को भी आलंकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड़ करना पड़ा था।

इन विषमताओं का समाधान अन्त में आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना द्वारा किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलंकारवादियों की बाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया। रस-सिद्धान्त के अनुसार तो जहाँ विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति न हो वहाँ काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नहीं है। परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि से तीन विभाग कर दिए। उन्होंने यद्यपि मुख्य रस-ध्वनि को ही माना तथापि वस्तु और अलंकार को भी काव्य में उचित स्थान दिया। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धांत का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है। 'ध्वन्यालोक' के उपरांत

अभिनव गुप्त के 'लोचन' की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रतिभा के बल पर रस-स्थिति से सम्वन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियो का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप से निपेध करते हुए व्यञ्जना की मान्यता स्थागित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन मे व्यञ्जना किस प्रकार सभी व्यवधानो का नाश करती है तथा कटु भावो का भी मधुर रस की स्थिति तक पहुँचा देती है। अभिनव गुप्त साधुवृत्ति के दार्शनिक विद्वान् थे, अतएव स्वभावत शान्त रस के प्रति उनका विशेप अनुराग था। उन्होने शान्त रस का रसत्व ही सिद्ध नही किया, वरन् अन्य सभी रसो का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोपित किया। वास्तव मे सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अभिनव गुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय उन्ही को है।

अभिनव गुप्त के सिद्धान्तो का महिम भट्ट ने विरोध किया। उन्होने व्यञ्जना की स्थिति का निपेध किया और श्री शंकुक के आधार पर रस को अनुमित माना। परन्तु उनका मत लोकप्रिय नही हुआ। रस का सबसे प्रवल पृष्ठपोपरा राजा भोज ने किया। उन्होने केवल एक रस—शृङ्गार—की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसो का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नही था। उनका सिद्धात था कि अहंकार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहवृत्ति, यह अभिमान ही शृङ्गार है, यही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस मे कभी परिणत नही हो सकते, वे तो केवल रस की श्री-वृद्धि करते है, जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणे अग्नि की द्युति-वृद्धि करती है। भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' मे मौलिकता तो अधिक नही है, परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के वल पर वह सस्कृत रस-शास्त्र का विश्व-कोष कहा जा सकता है।

भोजराज के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय मे विशेपतया उल्लेखनीय है। मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तो का स्वच्छ रीति से समाहार करते हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस-परम्परा मे विश्वनाथ का योग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है, उन्होने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्व दिया। ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होने ध्वनि को रस के अन्तर्गत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस को महत्व देते हुए भी उसे काव्य के लिए सर्वथा अनिवार्य नही माना था, उसकी अनुपस्थिति मे भी मध्यम या कम-से-कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्यो मे भी काव्यत्व रस के कारण ही माना। उनमे भी रस का क्षीण-से-क्षीण आभास अवश्य होना चाहिए अन्यथा वे काव्य नही माने जा सकते। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्होने चित्र को काव्य की कोटि से

बहिष्कृत कर दिया। परन्तु रस मे उन्होने चित्त की विद्रुति की अपेक्षा चित्त के विस्तार को अधिक महत्त्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्त्व माना, इसीलिए रसो मे अद्भुत को उन्होने प्रधानता दी। विश्वनाथ के इस रस-सिद्धात का उग्र विरोध अठारहवी शताब्दी मे पडितराज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' को सकीर्ण कहकर उन्होने काव्य को 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द:' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धि-तत्वो को भी काव्य मे उचित स्थान दिया। पण्डितराज सस्कृत के दिग्गज विद्वानो मे से थे। उनके उपरान्त सस्कृत साहित्य-शास्त्र की परम्परा मे कोई उल्लेखनीय नाम नही मिलता। बस, फिर रस परम्परा भी, जो उनके पूर्व से ही नायिका-भेद की सकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीति-कवियो के हाथ मे आ गई।

रस की परिभाषा—रस की व्याख्या करने वाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है—'**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**'; अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है रति, करुणा आदि भावो के कारण। ये दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन; जिनके आधार से भाव जागृत होते है, जैसे—नायक-नायिका आदि। और २. उद्दीपन, जो भावो को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते है, उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुकर्म है अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव हैं, जैसे—भ्रूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं, जो क्षण-क्षण में उठ-गिर कर स्थायी भाव की पुष्टि करते है। इस प्रकार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावो का सयुक्त रूप में साक्षात्कार करके दर्शक के मन मे एक उत्कट आनन्दमयी भावना का सचार होता है, यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए—"कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते है। ये पहले-पहल तपोवन के रमणीय कुञ्जो मे मिलते हैं (विभाव)। दोनो एक दूसरे के आह्लादकर सौंदर्य को देखकर चकित हो जाते है और तृषित उत्सुक नेत्रो से एक-दूसरे की ओर देखते है—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टि-पात करती है (अनुभाव)। वियोग मे कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक-दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते है (व्यभिचारी भाव)। सौभाग्य से शकुन्तला, सखी की सहायता से, पत्र द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही मे दुष्यन्त वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनों प्रेमियो का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का

सयोग) कविता, सगीत, रग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने, नाट्य-धर्मी कहा है, मच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना-रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देश-काल का अन्तर भूलकर सामने उपस्थित घटना मे उन्मत्त हो जाता है, और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना मे विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।"[1] और स्पष्ट शब्दो मे, आलम्बन विभाव से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियो से परिपुष्ट तथा अनुभावो से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होना है

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभाव' सचेतसाम् ॥ साहित्यदर्पण ३।१

आगे चलकर रसमग्न करने की क्षमता रूपक और काव्य तक ही सीमित नही रही—स्फुट रचनाओ मे भी मान ली गई—और फिर इसकी परिधि गीत, नृत्य तथा चित्र आदि कलाओ तक विस्तृत हो गई। सगीत, नृत्य आदि के द्वारा भी रस के प्रदर्शन और अभिव्यक्ति आदि की चर्चा परवर्ती शास्त्रो में मिलती है। रूपक या काव्य ही नही स्फुट छन्द, यहाँ तक कि गीत, नृत्य और चित्र भी सहृदय को रस-विभोर कर सकते है। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दो के फेर मे न पडकर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रस एक आनन्दमयी चेतना है। परतु यह जागृत किसमे होती है और किस प्रकार की होती है अर्थात् काव्य से उद्‌बुद्ध इस आनन्दमयी चेतना मे और अन्य निमित्तो से उद्‌बुद्ध आनन्दमयी चेतना मे क्या अन्तर है, ये प्रश्न उठते है। दूसरे शब्दो मे रस की मूल स्थिति किसमे है ? और रस का स्वरूप क्या है ?

रस की स्थिति

रस की स्थिति के विषय मे सस्कृत के आचार्यो मे बहुत मतभेद है। भरत ने रस की व्याख्या मे एक सूत्र देकर छोड दिया है—'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः', अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति से उनका क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होने सम्यक् रूप से नही किया। इस प्रसग मे उन्होने आगे भी कुछ वाक्य दिये है, जैसे '**यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षड्‌रसा निवर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति**।' अर्थात् जिस प्रकार गुड आदि द्रव्यो, व्यजनो और ओषधियो से षड्‌रस बनते है इसी प्रकार नाना भावो से घिरे

---

१. शंकरन के एक उद्धरण का अनुवाद। देखिए Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit 1929 पृष्ठ ?५

हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं : 'प्रपाणकरसन्यायात् चर्व्यमाणो रसो मतः।' परन्तु इससे भी समस्या कुछ सुलझ नहीं सकी; इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की। यहाँ स्पष्ट ही साहित्य का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठता है—रस का मूल भोक्ता कौन है? कवि या नाटककार, अथवा श्रोता या दर्शक, या फिर काव्य या नाटक के पात्र अथवा इन काव्यगत पात्रों के मूल रूप ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्त्री-पुरुष और या फिर नट-नटी? इनमें श्रोता या दर्शक का तो किसी-न किसी रूप में इसका भोक्ता होना सर्वथा स्पष्ट है और सभी ने उसको स्वीकार भी किया है। किस रूप में स्वीकार किया है यह दूसरी बात रही। वास्तव में यह बात इतनी प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध है कि इसका निषेध धोखे से भी नहीं किया जा सकता। नाटक या काव्य का अस्तित्व क्यों है? देखने या पढ़ने के लिए। कोई उसे क्यों देखे, पढ़े या सुने? आनन्द के लिए। यह भी कोई प्रश्न उठा बैठे कि किसके आनन्द के लिए, तो आप प्रश्नकर्ता के दुराग्रह अथवा उसकी 'मूर्खता' पर कुछ झुँझलाकर यही उत्तर देंगे स्पष्टतः अपने आनन्द के लिए। जो कोई कुछ भी करता है, अपने आनन्द के लिए ही करता है। दूसरों के आनन्द के लिए भी वह जो कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसके आनन्द में ही निहित रहती है।

भरत-सूत्र के सबसे पहले जिस व्याख्याकार का मत अभी तक प्राप्त हो सका है, वह लोल्लट है। वह सामाजिक के आनद को तो अस्वीकृत नहीं करता, परन्तु उनकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते हैं—सामाजिक के हृदय में तो नट-नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति करके रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक, सामाजिक का है प्रतीति-जन्य, अपरागत (Second hand) और इस प्रतीति के माध्यम है नट-नटी। सामाजिक नट-नटी में नायक-नायिका का आरोप करके (उनके नाट्य-कौशल के कारण उन्हीं को नायक-नायिका समझता हुआ) नाटक का आनन्द लेता है। यहाँ दो-तीन प्रश्न उठते हैं—१ नायक-नायिका (दुष्यन्त-शकुन्तला) से क्या आशय है? मूल ऐतिहासिक दुष्यत और शकुन्तला या नाटक में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला? २ नट-नटी का इनसे क्या सम्बन्ध है? तीसरे के रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है? भट्ट लोल्लट अपना आशय शायद इस प्रकार स्पष्ट करते एक दिन अचानक ही दुष्यन्त और शकुन्तला तपोवन की रम्य कुञ्जस्थली में मिलते हैं और एक दूसरे के अपूर्व सौंदर्य को देखकर मुग्ध-चकित हो जाते हैं। दोनों के हृदय में स्थित वासना-रूप रति जागृत हो जाती है। दुष्यन्त शकुन्तला की ओर विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है, शकुन्तला भी चोरी-चोरी सलज्ज दृष्टि उसकी ओर डालती है। ये अनुभाव उनकी जागृत रति को व्यक्त करते हैं। दोनों के मन में अनेक तर्क-वितर्क उठते

लगते है, और वे वियोगजन्य ताप मे जलने लगते हे। इन मंचारियों से रति परिपुष्ट होती है। अन्त में दुष्यत स्वय ही वहाँ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनो का सयोग होने पर रति-भाव पूर्णत उद्‌बुद्ध होकर शृगार रस मे परिणत हो जाता है और वे उसका आनन्द लेते है। अतएव रस का वास्तविक अनुभव करते है नायक-नायिका। अब प्रश्न यह उठता है कि नायक-नायिका से लोल्लट का आशय कौन से दुष्यत-शकुन्तला से है? ऐतिहासिक महाराज दुष्यन्त और मेनकात्मजा कण्वपोष्या शकुन्तला से, जिनका वर्णन हम 'महाभारत' मे पढते है और जिसे कालिदास ने भी उसी रूप मे पढा होगा? अथवा कालिदास द्वारा अकित दुष्यन्त और शकुन्तला से, जो महाभारत के दुष्यत-शकुन्तला से निश्चय ही कुछ अशो मे तो भिन्न है ही? भट्ट लोल्लट का अभिप्राय निस्सदेह ही ऐतिहासिक दुष्यत-शकुन्तला से है। या यो कहे कि वह इतिहास के दुष्यत-शकुन्तला और 'शाकुन्तलम्' के दुष्यत-शकुन्तला मे कोई मूलगत अतर नही मानता। एक तो शायद इसलिए कि नियम के अनुसार नाटक के नायक-नायिका प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति ही होते है, दूसरे इसलिए भी कि उस समय तक काव्यगत पात्रो मे कवि के आत्माश को स्वीकार करने की क्षमता आलोचक को प्राप्त नही हो सकी थी। वैसे भी भारतीय साहित्य-शास्त्र की बाह्यार्थ-निरूपिणी दृष्टि कवि के आत्माश की उपेक्षा ही करती आई है। थोडी गहराई मे जाकर देखा जाय जो 'महाभारत' के दुष्यत-शकुन्तला भी मूल ऐतिहासिक दुष्यत-शकुन्तला नही है। खैर, यह एक लबा प्रसग है जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल यही निर्देश करना है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यन्त-शकुन्तला मे ही मानता है। कवि-अकित दुष्यत-शकुन्तला को या तो वह उनसे एकरूप करके देखता है या फिर, जैसा कि कुछ विद्वानो का मत है, नट-नटी की भाति माध्यम-मात्र मानता है। प्रेक्षक सामने नट-नटी को उनका अभिनय करते हुए देखता है, और उनकी कुशलता एव सजीवता के कारण उनमे ही दुष्यत-शकुन्तला का आरोप कर लेता है—अर्थात् उन्ही को दुष्यत-शकुन्तला समझ लेता है। रगमच पर उनको रस-ग्रहण करते हुए देखकर वह यही समझता है कि वास्तविक दुष्यत-शकुन्तला रस-ग्रहण कर रहे है और उनकी रस-दशा को देखकर स्वय भी रसानुभव करने लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक रसानुभव कैसे कर सकता है? बाद के व्याख्याकारो ने इनके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप किये है—एक दूसरे को इस दशा मे देखना, विशेषकर यदि रस शृगार है, अनुचित है, अनैतिक है। अनुचित या अनैतिक कर्म करने की शास्त्र कैसे आज्ञा दे सकता है? और उससे आनन्द कैसे संभव है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी तो यह आवश्यक नही कि दूसरे के प्रेम-मिलन का आनन्द

देखकर हमे प्रेम का आनन्द ही प्राप्त हो—ईर्प्या हो सकती है, लज्जा, विरक्ति और क्रोध तक हो सकता है।

भट्ट लोल्लट को उत्तर देने का अवसर नही मिला; वह इन आक्षेपो का क्या उत्तर देता, यह नही कहा जा सकता। पर आज का समालोचक बडी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनन्दित हो सकते है। आनद के अतिरिक्त जो भी प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के ही द्वारा होगी और आनद का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यो न हो। दुष्यत और शकुन्तला का सयोग-सुख देखकर यदि हमे ईर्प्या होती है तो यह नही समझना चाहिए कि हमारी ईर्प्या की भावना उनके सयोग-सुख से सर्वथा भिन्न है। यह भी उसी का रूप है, पात्र और परिस्थिति के वैपरीत्य से उसका रूप-मात्र बदल गया है और यह रूप-परिवर्तन तो किसी भी दशा मे सम्भव है।

सक्षेप मे भट्ट लोल्लट-कृत विवेचन की शक्ति और सीमाएं इस प्रकार है—

शक्ति—१ उसने रसास्वादन के मूल-तत्त्व सहानुभूति की ओर सफल सकेत किया है। २ उसने ऐतिहासिक व्यक्तियो मे रस की स्थिति मानकर सौंदर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त आत्यतिक रूप से सत्य न होते हुए भी सर्वथा अनर्गल नही है। हमारे हृदय मे कुछ विषय अन्य विषयो की अपेक्षा रस की उद्‌बुद्धि अधिक मात्रा में तथा अधिक सरलता से कर सकते है, और इसका कारण यह है कि इन विषयो पर हमारे अपने, हमारी जाति के, हमारे देश के और आगे बढकर सम्पूर्ण मानवता के परपरागत सस्कारो के पर्त चढे हुए है। इसलिए विशेष कठिनाई के बिना हमारी वासना, जो स्वय सस्कार-रूप है, जागृत की जा सकती है। यह रसानुभूति अपेक्षाकृत कही अधिक गहरी भी होती है, क्योकि इसमे परिस्थिति-विशेष के ही नही वरन् युग-युग के, और उधर हमारे एक व्यक्ति के ही नही वरन् समग्र जाति के सस्कार एक साथ जग उठते है। हिटलर पर स्टालिन की विजय का चित्र देखकर साधारणत हमारे आज के (राजनीति से प्राप्त) सस्कार ही झकृत होते है, परन्तु रावण पर राम की विजय का वर्णन पढकर युग-युग तक प्रसरित सस्कारो का जाल झकृत हो उठता है। स्पष्टत यह दूसरी झकार पहले की अपेक्षा कही अधिक गहरी और सबल होगी। सचारियो से स्थायी भावो को अथवा एक रस से दूसरे को अधिक महत्त्व देने का भी यही कारण है। आलोचना के इस समृद्ध युग मे भी हम मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य शुक्ल को इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए पाते है। आज का पदार्थवादी दृष्टिकोण भी हीगेल के आदर्शवाद का (अर्थात् ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति का) निषेध करके वस्तु या पदार्थ से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता हुआ बहुत-कुछ इसी वस्तुपरक सिद्धान्त की ओर लौट

आया है। हमारे यहाँ मीमांसकों का दृष्टिकोण यही था और लोल्लट मीमांसक ही तो था। ३. उसने नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया है। वास्तव में नट के लिए भी रसानुभूति अनिवार्य है, उसके बिना सफल अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी कला बिना अनुभूति के सफल कैसे हो सकती है, वह कोई यन्त्र-परिचालित काम तो है नहीं। नट का लक्ष्य चाहे धन हो या और भी कुछ, परन्तु अभिनय के समय उसे तन्मय, रस-मग्न होना ही पड़ेगा, नहीं तो अभिनय सफल नहीं हो सकता।

सीमा—१. वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि द्वारा अंकित उनके प्रतिरूप व्यक्तियों का अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। काव्य में तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है, जो कवि की अपनी अनुभूति के मूर्त रूप-मात्र है। अतएव नायक-नायिका में रस की स्थिति मानना वास्तव में कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव में यह नहीं जान सका कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रस का अनुभव करता है। उसके विवेचन की सबसे बड़ी सीमा यही थी, क्योंकि इस प्रकार कल्पित पात्र और कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता।

२. उसने सामाजिक के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया है। भरत-सूत्र का दूसरा व्याख्याता हुआ, शंकुक। उसने भट्ट लोल्लट का विरोध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया। अर्थात् उसने प्रतिपादन किया कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानता है। प्रेक्षक उसको (आरोप के द्वारा) प्रत्यक्ष देखकर प्राप्त नहीं करता, वरन् अनुमान से प्राप्त करता है। उसका आक्षेप है कि दूसरे को रस-दशा में देखकर पहले तो प्रेक्षक को रस-प्रतीति ही नहीं हो सकती और यदि कुछ उत्तेजना होती भी है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए नायक-नायिका की प्रत्यक्ष शृंगार-रसानुभूति सहृदय में संकोच, ईर्ष्या, विरक्ति आदि की भावना भी तो जागृत कर सकती है। परन्तु इस आक्षेप के द्वारा शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करता है, जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है। उसका दूसरा आक्षेप यह है कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हमको कैसे हो सकती है? आज का आलोचक उसका भी उत्तर देने में असमर्थ नहीं है। वह कहेगा 'कल्पना के द्वारा'। पहले नाटककार स्वयं सहानुभूति और कल्पना के द्वारा (जिसमें कि ये दोनों गुण असाधारण मात्रा में मिलते हैं) अथवा नायिका में तद्रूप कर देता है, और फिर उसक

के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। परंतु शकुक इस समाधान तक नहीं पहुँच सका और इसका भी कारण यही था कि संस्कृत के आचार्य रसास्वादन मे कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोडकर चले हे। निदान शकुक ने रस की प्रतीति न मानकर, 'चित्र-तुरग-न्याय' के आधार पर इसका अनुमान ही सभव माना हे। शकुक का सिद्धात कुछ इस प्रकार है: भरत ने स्थायी भाव और रस मे कोई अतर नही माना। स्थायी-भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक-नायिका को ही होती है। परतु रगमच पर नट-नटी इतना सफल अभिनय करते हे कि प्रेक्षक चित्र-तुरग-न्याय से उन्ही को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय का आनद लेता हुआ मूल-भाव का अनुमान करता है। यह अनुमित (स्थायी) भाव ही रस हे और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अतएव मूल भाव का अनुभव करते है नायक-नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते है प्रेक्षक, और इस अनुमान का माध्यम है नट-नटी, जिनका अभिनय-सौंदर्य (अपूर्व वस्तु-सौंदर्य) इस अनुमान को सभव बनाता है। परतु मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या हे, लोक-अनुभव के विरुद्ध हे। अनुमान बुद्धि की क्रिया हे मन की नही, अनुमान मे ज्ञान होता है अनुभूति नही। किसी प्रणयी-युग्म को एकात उपवन-गृह की ओर जाते हुए देखकर हमको अनुमान के द्वारा तो केवल यह ज्ञान ही होता है कि वे प्रणयानुभव ही करेंगे, या कर रहे होगे। इसके आगे यदि हमे भी वैसी उत्तेजना होती है तो वह इसलिए नहीं होती कि हमने उसका अनुमान लगा लिया है, वरन् इसलिए कि हमने एक कदम और आगे बढकर कल्पना और सहानुभूति के द्वारा अपने को उस स्थिति मे डालकर उनके प्रणयानन्द का मनसा साक्षात्कार कर लिया है। शकुक ने वास्तव मे रसास्वादन के विवेचन मे विशेष योग नही दिया। भट्ट लोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और सहानुभूति-तत्त्व का निषेध करके अनुमान के सिद्धात द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है। वह यह कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव मे महत्त्वपूर्ण योग देता है इस तथ्य का उसने असदिग्ध शब्दो मे निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह हे कि उसने रस-सिद्धात को पूर्णत वस्तुपरक स्थिति से हटाकर व्यक्तिपरक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया।

इस समस्या को भट्ट नायक ने बहुत-कुछ सुलझाया है। लोल्लट, शकुक और इधर ध्वनिकार के मतों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है कि रस का न तो ज्ञान होता है और न उत्पत्ति, और न अभिव्यक्ति। उसने दो अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये है, एक तो यह कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए न कि आनन्द या रस की। और शोक-प्राप्ति के लिए

कोई क्यो नाटक देखेगा या काव्य पढेगा ? दूसरे, अगर सहृदय के हृदय मे ही रस स्थित रहना है और विभाव, अनुभाव तथा सचारी के सयोग से अभिव्यक्त हो जाता है, तो प्रश्न यह उठता है कि एक का भाव अर्थात् नायक का व्यक्तिगत भाव, दूसरे के अर्थात् प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभिव्यक्त कर सकता है ? फिर रति, शोक आदि की अभिव्यक्ति सम्भव भी हो सके, परन्तु समुद्र-लघन-जैसे असाधारण भावो की अभिव्यक्ति साधारण पाठक मे कैसे हो सकती है ? किन्तु यह प्रश्न मौलिक होते हुए भी अकाट्य नही है। पहले प्रश्न का उत्तर आज का आलोचक यह देगा कि एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नही होता केवल मनसा (कल्पना द्वारा) साक्षात्कार होता है और मानसिक रूप धारण करने मे कटु-से-कटु अनुभव भी क्रमश: अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु-से-कटु स्मृति मे भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त कवि या नाटककार का अपना सृजन अनुभव या सहजानुभूति, और स्पष्ट शब्दो मे अनुभूति की सफलता का आनन्द, भी तो इस शोक को अपने रग में रग कर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नही है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभावत. आनन्दमय होता है। प्रेक्षक या पाठक को कवि के इस सफल (आनन्दमय) भावन की अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनन्द-रूप ही होता है चाहे नाटक का विषय सुखात्मक हो या दु:खात्मक। यह समाधान उस समय प्राप्त नही हो सका, और इसका कारण भी यही था कि संस्कृत के आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड ही दिया था।

भट्ट नायक के दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सरल है। पहले तो काव्यगत 'भाव' सामान्यत: असाधारण नही हो सकता, क्योंकि कोई भी अनुभाव 'भाव' सज्ञा को तभी प्राप्त कर सकता है जब कवि को स्वय उसकी सहजानुभूति हो गई हो। और कवि के लिए जब उसकी अनुभूति सभव है तो प्रेक्षक या पाठक के लिए भी सर्वथा सम्भव ही होनी चाहिए, क्योकि कवि की प्रतिभा कितनी ही लोकोत्तर अथवा असाधारण क्यो न हो, उनके मन की स्थिति तो साधारण ही होती है। और यदि ऐसा नही है, यदि कवि अलौकिक रहस्य-द्रष्टा है या विक्षिप्त है, तो न तो वह अपने अनुभव को प्रेषणीय बना सकता है और न पाठक ही उस असाधारण अनुभव की सहजानुभूति कर सकता है। उसकी कृति फिर काव्य की परिधि से बाहर पडेगी। इस प्रकार काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक मे असम्भव नही मानी जा सकती। हनुमान के समुद्र-लघन का उत्साह सर्वथा अलौकिक या अमानवीय, असाधारण या विशिष्ट नही है। साधारण उत्साह से मूलत वह भिन्न नही है। एक

शब्द में (जैसा कि बाद में अभिनवगुप्त ने कहा भी) काव्यगत कोई 'भाव' विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है और सहृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

पर भट्ट नायक ने इन शंकाओं का समाधान दूसरे प्रकार से किया। उसने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका में मानी, न नट-नटी में। रस की स्थिति उसने सीधी सहृदय में मानी। भट्टनायक के अनुसार काव्य में तीन शक्तियाँ निसर्ग-सिद्ध हैं, (१) अभिधा, (२) भावकत्व, (३) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है, जिसके द्वारा पाठक या प्रेक्षक काव्य के शब्दार्थ को ग्रहण करता है, यह प्रत्येक शब्द-रूप ज्ञान में होता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व, जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शकुन्तला के प्रति रति, दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति भाव नहीं रह जाता, न नट का नटी के प्रति, न प्रेक्षक का अपनी प्रेमिका के प्रति। वह पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रति-भाव ही रह जाता है। इस प्रकार भावकत्व के द्वारा नायक-नायिका, नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व अन्तर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप-से-आप रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है और प्रेक्षक या पाठक आनन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं, भुक्ति होती है।

भट्ट नायक संस्कृत के बड़े मेधावी आलोचकों में से हैं। उसके विवेचन से रस-शास्त्र अत्यन्त समृद्ध-समुन्नत हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसने अभिनव से पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धान्त काव्य-शास्त्र के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना—दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति का भावन करने द्वारा भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी 'शाकुन्तलम्' के इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार सम्भव होता है? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें

रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। (विषय का) इसी रूप मे लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[१] इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले धर्मो की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावो का आलम्बन हो जाता है।"[२] इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावत. यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है। "साधारणीकरण के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यो ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"[३]

इसका सकेत विश्वनाथ मे मिलता है। परन्तु यह भट्ट नायक और अभिनव का मत नही है। उन दोनो ने शब्द-भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियो मे सहृदय के लिए रति-भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य क्योकि उनका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नही होता—'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्लजी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या सस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना मे उसी के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप मे उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।"[४] भट्टनायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते है, क्योकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्लजी कहते है कि हमारे सामने किसी कल्पित सुदरी का चित्र आयगा, परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नही, साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधुर न होकर कटु है (जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपना शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है) तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के

१. 'चितामणि', साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद।
२. वही।
३. वही।
४. वही।

कारण कटु ही होगा। रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव में यह-सब कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती ?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है ? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपनी (सहृदय की), राम (आश्रय) की, और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूंकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देते हैं। साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ), १ आश्रय की, और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझ कर रति का अनुभव करते हैं ? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी सभावना कैसे हो सकती है ? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित, क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत, भी हो सकता है, आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? अच्छा आश्रय को छोड़िए। साधारणीकरण नायक का होता है **'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।'**[१] इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य पर यह प्रतिबंध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिल्कुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है। नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होती। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है ? अर्थात् पुष्प-वाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ

१. भट्टतौत।

उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्वप्रिया बन जाती है ? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) 'शात पाप, शात पापं' कह उठता है, और उसने स्पष्ट शब्दो मे तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नही ? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित शृगार रस का अनुभव कर रहे है। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप मे नही देखेगे शृगार रस की दशा से दूर रहेगे। और इसमे कोई अनौचित्य नही है, क्योकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमे हम मातृबुद्धि रखते है सर्वथा स्वतन्त्र है, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति मे ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा मे जैसा कि तुलसी के शृगार-चित्रो से स्पष्ट है हमे अमिश्रित शृगार नही मिलता। हम काव्य की सीता से प्रेम करते है और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नही है जिससे हमको किसी प्रकार का सकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति सवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते है वह वास्तव मे कवि की अपनी अनुभूति का सवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण, जो भट्ट नायक और अभिनव गुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणी-करण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयो मे समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली मे हम कहते है कि उसमे साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी मे होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किचित् व्यक्त भी कर लेते है, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सबमे नही होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नही होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणी-करण कर सके, दूसरे शब्दो मे "जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती है कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कही राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति मे कोई बाधा नही आती, क्योकि हमारे अन्तर मे तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाद-वध' का यह प्रसग हमारे हृदय मे रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या

घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं मे आयगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कृत्याओं में जघन्य है, तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते है। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत करके उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता मे हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उनके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा मे हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमार-सभव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण प्रेम-प्रसगो को पढ़कर यदि हमे अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमे कोई मानसिक ग्रन्थि (Complex) नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना मे उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सभव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश-विदेश के पडितो ने इसके दो उत्तर दिये हैं—१. साधारणीकरण भाषा का धर्म है, २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यो के हृदय मे एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर मे भट्ट नायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है। भट्ट नायक काव्य (काव्यमय शब्द) मे ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द मे भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते है। विदेश के पडित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीको का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डो और भावो को समान रूप से सबकी चेतना मे जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव मे एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो सस्थान है: ज्ञान पहला सस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष,

हमारी चेतना मे किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिस मे प्रतीक केवल ज्ञान जगाते है, दूसरा वह जिसमे भाव भी जगाते है। पहला प्रयोग हम सभी साधारणत व्यवहार मे लाते है, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणो मे जब हमारे अपने भाव-प्रतीकों पर आरूढ होकर उन्हे इतना भावमय वना देते है कि उनमे सुनने वालो के हृदयो मे भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य तो यह है कि शब्दो को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलत. हमारे भावो से ही प्राप्त होती है। अव यदि आप पूछे कि एक व्यक्ति का भाव दूसरो के हृदयो मे समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय मे (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि मे समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन मे रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नही वढ पाए है।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता हैं; और प्रयोक्ता के भावो की संवेदन-शक्ति का आधार है मानव-सुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोडी-वहुत सभी मे होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोडी-वहुत सभी मे होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नही। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति मे होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो; जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के वल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरो के हृदयो में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।

इतना होते हुए भी भट्टनायक का सिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं हैं। उसकी सबसे वडी भ्रान्ति है काव्य शब्द मे भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियों की कल्पना जो पूर्णतः निराधार हैं। व्याकरण, मीमासा आदि किसी मे भी इनका संकेत नही मिलता।

इस त्रुटि का संशोधन अभिनवगुप्त ने किया, जो 'भरत-सूत्र' का चौथा व्याख्याकार था। उसने इस समस्या को वडे अच्छे ढग से सुलझा दिया। उसका सिद्धात इस प्रकार हैं—मानव-आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओ मे, विशेषकर सहृदयो की आत्माओ मे, स्वभाव से ही सासारिक अनुभव, पूर्वजन्म अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ सस्कार-रूप मे स्थित रहती है। ये कामनाएँ ही पारिभाषिक शब्दावली मे

स्थायी भाव कहलाती है। विभाव, अनुभाव और सचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उद्बुद्ध होकर रस-रूप मे परिणत हो जाते है अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त हो जाते है जहाँ एक आनन्दमयी चेतना के रूप मे उसका अनुभव होता है। यहाँ आकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। वह मेरा या दूसरे का न रहकर साधारण भाव-मात्र रह जाता है और इस प्रकार वह सर्वग्राह्य बनकर एक साथ इतना तीव्र हो जाता है कि उसका भावत्व भी नष्ट हो जाता है। केवल एक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। कालिदास ने इसी की ओर स्पष्ट सकेत किया है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥[1]

अर्थात् रम्य दृश्यो को देखकर या मधुर शब्दो को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिए कि उसे अपने पूर्व के जन्मो के स्नेह-सम्बन्धो की, जो उसके अचेतन मन मे स्थिर (स्थायी) भावो के रूप मे स्थित हैं, अनायास ही सुधि आ रही है।

कालिदास के छद मे 'भावस्थिराणि' तो स्पष्टत. स्थायी भाव है ही और सुधि आने का तात्पर्य है अचेतन मन से चेतन मन में आ जाना—ठीक वही जो अभिनवगुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। इस समय चित्त की एकाग्रता के कारण तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य रहता है और आत्मा का स्वप्रकाश या स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है।[2] इस प्रकार रस की न तो उत्पत्ति होती है और न अनुमिति, और न भुक्ति; उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नही होता सहृदय को अपनी आत्मा मे से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। अभिनव वास्तव मे आभासवादी वेदान्ती है, जो वस्तु की स्थिति न मानकर केवल चिदानंद ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करता है। विदेश मे हीगेल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धात है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं, विषयगत नहीं।

अभिनवगुप्त का सिद्धात भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नही है। भट्टनायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धात भी कि काव्यानद उद्रेक के समय तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है वह बिना सशोधन के स्वीकार कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि अभिनवगुप्त भावकत्व और

---

१. 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' ५।२
२ देखिये 'नवरस', गुलाबराय।

भोजकत्व को निराधार घोषित करता हुआ उनके स्थान पर व्यंजना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकृत करता है। भट्टनायक का मत है कि काव्य की प्रकृति ही ऐसी है कि सहृदय को पहले इसका अर्थ-ग्रहण, फिर भावन अर्थात् निर्विशेष रूप से चिंतन, और उसके उपरात तुरन्त ही आनन्द-प्राप्ति सहज मे ही हो जाती है। परन्तु अभिनव यह मानता है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा मे ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है। मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सामान्यत. अभिनवगुप्त के सिद्धात को ही स्वीकृत किया है।

विवेचन—अभिनवगुप्त का सिद्धात भारतीय साहित्य-शास्त्र मे सर्वमान्य-सा ही हो गया है और वास्तव मे वह बहुत अशो मे पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा मे ही उसकी स्थिति है, वस्तु मे नही; वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन मे हमारे सामने मूलत. तीन सत्ताएँ आती है—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली मे हम कह सकते है कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को सवेद्य बनाता है; वस्तु तत्त्वत उसकी अनुभूति है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस सवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्त्व रूप मे कवि की अनुभूति कहा है जिस पर आपत्ति उठ सकती है। सस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे तो, जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है उसकी कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप मे प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नही होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्त्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नही होता, क्योकि सवेद्य कवि की अनुभूति ही है, कथा का एक अणु भी नही। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यो दुहराये ? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरश: दुहराते भी है, तो उसके द्वारा वास्तव मे हम अपनी ही बात कहते है। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नही। इस प्रकार तत्त्व रूप में वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नही है। अतएव वस्तु या विषय मे रस खोजना अर्थवाद से अधिक नही है। वस्तु के अन्तर्गत भट्ट लोल्लट के नायक-नायिका भी आजाते है। ये नायक-नायिकाएँ भी (चाहे

इसका प्रमाण यह है कि दुष्यत और शकुन्तला के नाम बदलकर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिए जायँ या हमे इतिहास (महाभारत) का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्त्व-वेत्ता असदिग्ध रूप मे यह प्रमाणित कर दे कि 'महाभारत' का शाकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है तो भी 'शाकुन्तलम्' पढकर हमे काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव मे ऐतिहासिक है, (यद्यपि ऐसा हो नही सकता !) अब देखिए कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माईकेल मधुसूदन दत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमे रस-दशा तक पहुँचा सकते है, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा ? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति :

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सभाव्य है।।[1]

मूल मे जाकर उनकी भक्ति भावना की ही व्यजक है, राम के रामत्व की नही। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप मे हमे प्रतीत होता है वह वास्तव मे हमारे अन्तर्मन पर पडा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यो से प्राप्त सस्कारो का सघात-मात्र ही है, वह स्वतंत्र अस्तित्ववान नही है। यहाँ इसका निषेध नही है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमे 'रामायण' 'रामचरित-मानस', 'साकेत' आदि पढकर कदापि नही हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभाव मे वह हमारे लिए निरर्थक है), दूसरे उन्होने रस का नही, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौंदर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानद का अनुभव अवश्य किया होगा पर वह रीति-भाव का अनुभव था, 'शृंगार रस' का नही। यह सयोग-मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओ मे सभव नही है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होगे अथवा सीता-वियोग मे विषण्ण या लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है ? परन्तु उनके इसी अनुभव को काव्य मे पढकर हम 'रस' लेते है। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणत विश्वसनीय सी लगती हुई भी अन्त मे मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती है—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है, सहृदय की रसानुभूति मे तो किसी को सदेह हो ही नही सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों मे से किस मे है ? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनवगुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय मे'।

---

१. साकेत।

क्योंकि जब हम प्रसन्न होते है तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अतर मे ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्म-दर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनो ही समान रूप से मानते है। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है; (सु=सुलभ+ख=आकाश, व्याप्ति)। उसमे आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्मा का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मै हूँ" यही रस का सार तत्त्व है।[1] विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनद को 'अंतर्वृत्तियो का सामजस्य' (Systematization of Impulses) ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अतर मे ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी सवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण करके सहृदय की रस-चेतना जागृत हो जाती है? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस मे डुबाकर' कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने मे कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस सवेदित अनुभूति को ग्रहण करने मे सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वादन होता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है, अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय मे मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन मे। क्योंकि यदि कवि के कथन मे रस नहीं है तो सहृदय के हृदम मे स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय मे रस नही है तो कवि का सवेद्य निष्फल हो जायगा। पहले तथ्य के प्रमाण मे अनेक नीरस छद उद्धृत किये जा सकते हैं और दूसरे के प्रमाण मे अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति, जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था; या भट्टतौत का यह सिद्धान्त कि नायक, कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है,[2] या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति कि 'कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है, वह भाव कहलाता है'[3]—ये सब इस बात के असदिग्ध प्रमाण है कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-

---

१. डॉ० भगवानदास, 'रस-मीमासा'—द्वि० अ० ग्र०

२. नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

३. वागाङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। ना० शा० ७।२

रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान-रूप मे कवि की अनुभूति को सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे पृथक् ही रखा गया है । भट्टतौत का सिद्धात भी उपेक्षित-सा ही रहा है ।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात । लेकिन दृश्य काव्य मे नट-नटी की सत्ता और माननी पडेगी । इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है ? रस की स्थिति उनके हृदय मे भी माननी पड़ेगी । नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिएँ अन्यथा वे सवेद्य का उचित माध्यम नही बन सकते । जब वे सवेद्य अनुभूति को पहले स्वय ग्रहण कर सकेंगे, तभी वे सहृदय तक सवेद्य को पहुँचाने मे सफल हो सकेंगे । इसलिए उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गए सस्कृत-आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित है ।

अन्त मे निष्कर्ष यह निकलता है इसमे सन्देह नही कि कविता पढकर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय मे है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है । परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने मे स्वय रस ले सका हो अथवा अपनी अस्मिता का रस ले सका हो, नाटक मे नट-नटी के विषय मे भी यह सत्य मानना पडेगा । इसको स्पष्ट करने के लिए और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये ।

डॉडी-यात्रा पर जाते हुए गाधी जी का प्रसग है । यह अतर्क्य है कि गाधी जी ने उस समय एक सात्विक उत्साह का अनुभव किया होगा । मैने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझमे भी वह भाव जागृत हो गया । कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप मे उस भाव को ग्रहण किया; फिर बाद मे कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' मे महामानव गांधी का यह सात्विक उत्साह शब्दबद्ध कर दिया । मैने उसे पढा और एक सात्विक आनन्द का अनुभव किया । इस प्रकार हमारे सामने पॉच अनुभव है; एक अनुभव स्वय गाधी जी का; दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गाधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने मे प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गांधी जी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त । अब यह देखना है कि इसमे रस-सज्ञा किसको दी जा सकती है ? गाधी जी के अनुभव को ? नही । वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसंग मे मधुर है, अन्यथा कटु भी हो सकता है । उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गाधी जी की खीझ स्पष्टत ही एक कटु अनुभूति थी । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नही हो सकता । इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड जाते है । केवल दो अनुभव रह जाते है—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव । कवि का अनुभव (गांधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) उस अनुभूति को, जो बाद मे प्रत्यक्ष न रहकर संस्कार-मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने

का अर्थात् बिंब-रूप मे उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य-रूप देने मे वह उस सस्कार-शेप अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया मे एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस मे काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के सस्कार का भावन करते हुए अपनी हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरम्भ मे रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय स्थित रस का आस्वादन तो करते ही है, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासना-रूप मे स्थित स्थायी भावो को जागृत करके रस-दशा तक पहुँचाने मे अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय मे यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय मे पहुँचती है, मनोवैज्ञानिक रूप मे भी पूर्णतः सत्य है।

रस का स्वरूप

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रसः

—साहित्यदर्पण ३।२,३

उपर्युक्त पद्यो मे कविराज विश्वनाथ ने सस्कृत रस-शास्त्र मे वर्णित रस के स्वरूप का सार अंकित कर दिया है। यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड स्वप्रकाशा-नन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण आदि पदो द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, 'स्वाकारवदभिन्न' के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामत सस्कृत रस-शास्त्र मे रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार है :

१. आस्वाद्यते (रस्यते) इति रस —जिसका आस्वादन हो वह रस है—अर्थात् रस आस्वाद-रूप है। उसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते है। रस सहृदय-सवेद्य है।

२. यह आस्वाद अनिवार्यत. आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य है। अखड का अर्थ यह है कि इसमे विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक् या खड-चेतना नही होती; वरन् सभी की अखड चेतना होती है। दूसरे इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नही होती और तीसरे यह अनुभूति

'चिन्मय' है—अर्थात् अनिच्छापूर्वक एवं अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धि-सहित होती है। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यह है कि उसमें ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। बीभत्स रस का अनुभव जुगुप्सा, या करुण रस का अनुभव शोक का अनुभव नहीं है। "भाव, क्षोभ, सरंभ, संवेग, आवेग उद्वेग, आवेश, अंग्रेजी में, 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, आस्वादन रस है।"[1]

३. यह आनन्द चमत्कार-प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्त्व दिया है परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द में यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देखकर मन में आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कलाकृति (उदाहरण के लिए ताजमहल) को देखकर मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती, उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेश के सौन्दर्यशास्त्र में भी सौन्दर्य अनुभूति में विस्मय (Wonder) का तत्त्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है, प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है। कवि की लोकोत्तर सृजन-प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है, बस। इसके आगे, अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल में ग्रहण करके पेचीदा मजमूनों के गोरखधन्धे इकट्ठे कर दिए हैं।

४. रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष; न वह निर्विकल्पक ज्ञान है, न सविकल्पक; अतएव किसी मौलिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिवर्चनीय एवं अलौकिक है; ब्रह्मानन्द-सहोदर है. सवितर्क ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं क्योंकि उसमें तो अहंकारमयी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु रस में ऐसा नहीं होता। संक्षेप में, आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं:

१. क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है?

२. क्या रस अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है?

३. क्या यह आनन्द अभी तक निराला है?

---

१. 'रस-मीमांसा'—डॉ० भगवानदास।

आनन्द के विषय मे मनोविज्ञान के दो मत है। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओ का लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति है अर्थात् जीवन की समस्त क्रियाएँ आनन्दोन्मुख है। यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हेडोनिस्ट) कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नही रखती, ये अपना लक्ष्य आप ही है अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है, जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी (होरमिक)। इनमे पहला जीवन को साधन और आनन्द को साध्य मानता है। यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है। दूसरा जीवन को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानता है, यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं। वे आनन्द की स्थिति स्वीकार करते है; परन्तु उसे अनुभूति या भाव की विधि मानते है लक्ष्य नही, और इस प्रकार काव्य मे आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नही देते—उसकी सत्ता को साधारण रूप मे स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नही मानते। उदाहरण के लिए दु खान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नही मानते।[1] परन्तु वास्तव मे इस विवेचन मे शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नही है। आनन्द को ये लोग हमारी अतवृ‍्त्तियो की क्रिया की सफलता-मात्र मानते है। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियो की क्रिया सफल होती है—वे तृप्त हो जाती है, तो हमे आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नही है, महत्त्व है क्रिया का, और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगो का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियो के सकलन और समन्वय से आँका जाना चाहिए। जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तियो को सकलित और समन्वित करेगी, उतनी ही मूल्यवान होगी। काव्य और कला मे इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है, अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान सम्पत्ति हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अतवृ‍्त्तियो का समन्वय, जो उसकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नही है तो क्या है ? ये लोग उत्तर देगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नही

---

1. To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if is successfully read is to approach it in an inadequate attitude Obviously, it is the poem in which we should be interested, and not in a by-product of having managed successfully to read it

. . . This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had a still poorer psychological vocabulary than our own, is one reason why Tragedy for example is so often misapproached.

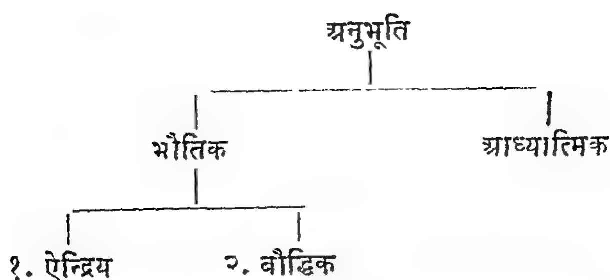
(Pleasure—Principles of Literary Criticism by. I. A Richards p-96-97)

है, आनन्द से भिन्न है, वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की विधि-मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है ?

आप अपनी स्थिति का स्मरण करके देखिए, दोनों में विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने साथ किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता। अतएव वृत्तियों के सकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण सकलित अवस्था में तृप्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण सकलन की अनुभूति अखंड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। वास्तव में आनद का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करना है। हाँ स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्थ आनन्द की (जो वास्तविक और जीवनप्रद है) प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है और इसे मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समर्थ विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है, इनसे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिनिधि नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते हैं। परन्तु उससे हमारा कोई विरोध नहीं, क्योंकि काव्य जीवन की अनुभूति है, उनसे निर्वितर्क समाधि तक ले जाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सप्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर 'स्वरूप में अवस्थान' की दशा तक जाते हैं। परन्तु वहाँ तो अनुभूति की सत्ता ही नहीं रहती निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक है।

दूसरा प्रश्न उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है। इस विषय में पहली स्थिति तो यही है कि रस का आनन्द भाव (Emotion) से भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावों द्वारा भी तो रस की प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृंगार रस के आनन्द में अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है। परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और बीभत्स रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण रस में अभिन्नता कैसे हो सकती है, यद्यपि इतना मानना पड़ेगा कि इनमें सम्बन्ध अवश्य है। न शृंगार रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण रस शोक की अनुभूति से। अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलतः सम्बद्ध है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक् है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनोविज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना। इसके आगे तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है—रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक ? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चले तो अनुभूति को स्थूलतः तीन रूपों

मे विभक्त कर सकते है—



स्पष्ट रूप से यह विभाजन स्थूल है, आत्यन्तिक नही है; क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है? अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आध्यात्मिक क्रिया मनुष्य मे कैसे कृतकार्य हो सकती है? अतएव यह विभाजन अनुभूति मे उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का ही द्योतक है—एक-मात्रता का नही। उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु,

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमे से किसके अतर्गत आता है या यह किसी के अतर्गत ही नही आता, स्वत-सापेक्ष और स्वतन्त्र है? सस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कहकर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानन्द न ऐसा है न वैसा, अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश मे उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहाँ का आद्याचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियो की सत्ता स्वीकार करता था—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टत सौदर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक् ऐन्द्रिय अनुभूति मानकर मिथ्या निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नही माना है, परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौदर्य से पृथक् रखा है। शताब्दियो तक यूरोप मे प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणत· मान्य रहे, परन्तु बाद मे रोमन विद्वान् प्लोटिनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया ·

'The beauty of natural objects is the archetype existing in the soul which is the fountain of all natural beauty. Thus was Plato in error (he said) when he despised arts for imitating

nature for nature herself imitates the idea, and art also seeks her inspiration directly from those whence nature proceeds."[1]

इसका साराश यह है—प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रांत है कि कला प्रकृति का अनुसरण करती है और प्रकृति स्वय ज्ञान की अनुकृति है इसलिए (अनुकृति की अनुकृति होने के कारण) कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटिनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया और फिर इसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणत. आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्ही दो मतो का आवर्तन होता रहा। अठारहवी शताब्दी में एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनो से पृथक् रूप मे सामने रखा। उसके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है, जो वस्तु के मूल रूप और कला द्वारा अनुकृत रूप के बीच मे मिलने वाले साम्य के भावन मे प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षत. ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनो से भिन्न है। वास्तव मे इसमे भारतीय रस का थोड़ा-सा आभास मिलता है। उन्नीसवी शताब्दी मे रोमाण्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढा कि बुद्धि की उपेक्षा करके काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अस्थिर हो गया, प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे-धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे, जिसकी स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवी शताब्दी के पहले चरण मे ब्रैडले और क्लाइव आदि मे निश्चित रूप से सुनाई पडी। इसके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है, जो लौकिक अनुभूतियो का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त किया नही जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यो से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियो में अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बेनेदेतो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर मानव-प्राण-चेतना मे सहजानुभूति की एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। इनके सिद्धात के अनुसार काव्यानुभूति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति सहजानुभूति है, जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओ (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय सवेदनो (Sensations) से न होकर बिम्बो से होता है। क्रोचे का यह मत

1 Aesthetic : Historical Summary—B. Croce.

कलावादियों के मत का वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश-विदेश के साहित्य-शास्त्र में काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द-विषयक पाँच सिद्धान्त मिलते हैं :

१. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षत. ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग में परिपोषण किया ड्यूवाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

२. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौंदर्य-रूप है, सहज आनन्दरूप है। काव्य उसी का उच्छलन है, अतः वह स्वभावत. आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं, हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है।

३ काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

४. काव्यानन्द सहजानभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्तक हैं क्रोचे।

५. काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है जो स्वत सापेक्ष्य है। यह काफी पुराना सिद्धात है। विदेश में इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डॉ० ब्रैडले[1] द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई।

उपर्युक्त सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थियों का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति (Direct perception) नहीं है, यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सामय ही होगी, जो कि स्पष्टत. असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं, क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही मान्य नहीं है, दूसरे काव्यानन्द में चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध अचंचल आनद का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एडीसन का कल्पना का आनद आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय)

---

१ 1 "First this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value Next, its poetic value is this intrinsic worth alone...For its n [illegible] to be [illegible] part, nor yet a copy of the real world as we com[illegible] but to be a world by itself and

और बुद्धि की क्रिया-मात्र है, स्वतन्त्र सत्ता नही। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनद से स्वतन्त्र नही है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति (Intuition) को भी स्वतन्त्र शक्ति मान लेने के लिए मनोविज्ञान आज तैयार नही है। मनोवैज्ञानिको ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिए मनोविज्ञान से कोई पृथक् स्थान नही। अत मे काव्यानुभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्वत.सापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नही, उससे भागना है। इस विषय मे अनेक युक्तियाँ दी जा सकती है, परतु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है। वे कहते है कि जब सौंदर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इद्रिय नही है तो उस अनुभूति को भी विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है। उसका अनुभव साधारण इद्रियो द्वारा ही तो होता है। इसलिए उसे साधारणत ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे माने, अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात् बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियो के अतर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णीत करना होगा। हम देखते है कि काव्यानुभूति मे चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक सवेदन तो होते ही है--रोमांच, अश्रु आदि शारीरिक सवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं, अतएव काव्यानुभूति मे ऐन्द्रिय अनुभूति का अश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमे न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी सदेह किया है। परंतु हम यह भी देखते है कि प्रत्यक्ष रूप मे अपने प्रियजन का स्पर्श करके चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमाच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टत भिन्न है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसग को देखकर अथवा उनसे भी किंचित् भिन्न नाटक पढ़कर प्राप्त होता है। चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमाच इस समय भी होता है, पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है ? स्पष्टत उतना प्रत्यक्ष, अतएव उतना तीव्र नही होता। दोनो मे भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता, प्रत्यक्षता एव तीव्रता की मात्रा की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मन्द है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह (काव्य का) अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नही है, भावित (Contemplated) घटना का

---

unique emotion—aesthetic emotion ”

(Richards I A, Principles of literary Criticism)

iii To appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions . and to not forget that a knowledge of life can help no one to our understanding

(Clive Bell. art, p, 75)

अनुभव है। भावन करने मे पहले कवि को, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नही है, भावित अनुभूति है। अर्थात् उसमे ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वो का लवण-नीर-संयोग है। अब एक शब्द रह गया अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ मे केवल सवेदन (sensations) रह जाते है जिनको वास्तव मे हम अपने मनोजगत् के अणु-परमाणु कह सकते है। शारीरिक रूप मे यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते है, मानसिक रूप मे ये सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते है, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते-पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते है, अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते है कि वे लगभग अरूप ही से लगते है। उनका रूप नही, केवल अन्वित-सूत्र ही रह जाता है. जैसे बहुत बारीक जजीर की कडियाँ नही दिखाई पड़ती केवल सूत्र ही दिखाई पडता है। इस प्रकार वास्तव मे अनुभूति अपने सभी रूपो मे मूलत सवेदन-रूप ही है: उसमे (शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपो मे) केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अन्तर है, मूलगत प्रकार का नही। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द सवेदन रूप ही है परन्तु यह सवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते है। साधारण रूप मे प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के सवेदनो की कल्पना कर सकते हैं—१. एक तो शुद्ध प्राकृतिक सवेदन (ये एकात प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते है), जो उदाहरण के लिए हमे अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते है। २. दूसरे वे सवेदन, जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते है—ये मानो पहले प्रकार के सवेदनो के बिम्ब-रूप है। स्वभावत. ही ये प्रत्यक्ष तथा स्थूल कम, और आंतरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते है। ३. तीसरे वे सवेदन, जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते है। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब है और स्वभाव से ही अत्यन्त आतरिक एव सूक्ष्म होते है। वास्तव मे इनका स्थूल शारीरिक अंश प्राय. नष्ट ही हो जाता है। इन्हे हम बौद्धिक संवेदन कह सकते है। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं मे हमे इसी प्रकार के सवेदन प्राप्त होते है। प्रत्यक्ष जीवन मे प्राय: ये ही तीन प्रकार के सवेदन हमारे अनुभव मे आते हैं, परतु पिछले दो प्रकार के सवेदनों के बीच एक चौथे प्रकार के सवेदन भी होते है जो स्मृति के भावन से (क्रोचे के शब्दो मे उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावली मे उसको काव्य-रूप मे उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते है। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव, स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसीके अनुपात से उसके सवेदन भी एक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते है। इस प्रकार काव्य से

प्राप्त सवेदनो की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक सवेदनो से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एव स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति मे एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नही होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूति की अरूपता नहीं होती, और इसीलिए वह पहले से अधिक शुद्ध-परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है। यहा यह शका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति सवेदनो से ही निर्मित है तो कटु सवेदनो के काव्य-रूप की अनुभूति मधुर क्यो होती है? इसका समाधान करने से पूर्व कटु सवेदन और मधुर सवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव मे सवेदन न अपने आप मे कटु है और न मधुर; कटुता और मधुरता तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति मे एक पृथक् सवेदन नहीं होता, सवेदनो का एक विधान होता है। जब सवेदनो मे सामजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विशृंखल और विकीर्ण होते है तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने कहा—काव्य से प्राप्त सवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते है। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते है। इसलिए अनिवार्यतः उनमे सामजस्य स्थापित हो जाता है; क्योकि काव्य के भावन का अर्थ ही अव्यवस्था मे व्यवस्था स्थापित करना है और अव्यवस्था मे व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य मे, अपने तत्त्व-रूप सवेदन के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

भाव का विवेचन

भाव की परिभाषा—सस्कृत मे भाव का अर्थ है स्थिति। साधारण रूप में हम कह सकते है कि "बाह्य जगत् के सवेदनो से मनुष्य के हृदय मे जो विकार उठते है वे ही मिलकर भाव की सज्ञा प्राप्त करते है।" आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भाव या मनोविकार का वर्णन करते हुए लिखा है

"We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity; aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination."[1]

"(स्थूलत: यह कहा जा सकता है कि) विशेष बाह्य स्थितियो के सवेदन अथवा स्मृति एव कल्पना के स्वतन्त्र विचारो द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है, जिसके दो प्रधान गुण है, अनुभूति और प्रयत्न।" और स्पष्ट शब्दो मे डॉक्टर मैकडुगल के आधार पर

1. Elements of Psychology—Mellone and Drummond.

यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही उस वृत्ति की अनुकूल पेशियो और स्नायुओ मे ओज का सचरण होने लगता है। ओज-सचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्येक परिस्थिति मे इस उत्तेजना मे एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक् नाम दे सकते है। 'यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना मे निहित विशिष्टता' दोनो भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते है, और 'स्नायु एवं पेशियो मे ओज का संचरण' उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपो के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य है—

१. भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी, क्योकि भाव वास्तव मे व्यक्ति की वस्तु अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

२. भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप मे होगा।

३. इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

४ भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन-स्वरूप शरीर मे विकार अवश्य उत्पन्न होगे।

५ किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नही रह पाएगी, उसमे अनेक विकार उत्पन्न होते रहेगे।

मनोविज्ञान के पडितो मे भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्यक्रम को लेकर बहुत-कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है। स्काउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक सवेदनो के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय मे यह क्रम नही माना जा सकता। उनके मत मे प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य है। हम इस विवाद मे न पड़कर यही कह सकते है कि भारतीय दर्शन मे यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक् सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का अन्तर : मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर— सस्कृत साहित्य-शास्त्र का आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है, अतएव उसने प्रकृत भाव (Emotion) की परिभाषा नही की। उसने या तो 'स्थायी' और 'सचारी भाव' की परिभाषा की है या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ मे पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है :

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥ सा० द० ३।१७४

अर्थात् अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको न छिपा सके, जो आस्वादन अकुर का मूल हो वही भाव स्थायी भाव कहलाता है। इसके विपरीत—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ सा० द० ३।१४०

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव मे उन्मग्न, निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत-तिरोभूत होने वाले (स्थायी भाव रूपी जल मे तरगो की भाँति सचरण करने वाले) भाव सचारी कहलाते है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते है, संचारी अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है, और संचारी एक संचरण-शील मनोविकार है। यह अन्तर बहुत-कुछ वैसा ही है, जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' (Sentiment) और 'मनोविकार' (Emotion) के बीच मे पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा—एक दृष्टिकोण है; मनोविकार एक अस्थिर सचरण-शील विकार मात्र है। 'मनोविकार एक संचरणशील अनुभव है। मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारो और मानसिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है, अथवा उसका एक अग है''' ।'[1] सक्षेपत. मनोविकार और मनोवृत्ति मे दो मुख्य अन्तर है :

१ मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर।

२. मनोविकार स्वभाव, वृत्ति या मात्रा (Instinct) से सम्बद्ध है; मनोवृत्ति विचार (Idea) से; अर्थात् उसमे बौद्धिक तत्त्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

सस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टत· मनोविज्ञान का मनोविकार है। यहाँ हम संचारी की परिधि मे रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे है, क्योकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायी न होकर समय-समय पर संचार के रूप मे सामने आते है।

स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति—अब प्रश्न रह जाता है स्थायी भाव का। स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार स्थायी भाव की विशेषताएँ है :

---

1 Emotion is a fleeting experience; Sentiment is an acquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities; it is an organization (or a part of total organization).

१. स्थायी भाव (अपेक्षाकृत) स्थिर है।

२. स्थायी भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है।

३. और इसीलिए वही रस दशा को प्राप्त हो सकता है, सचारी नही।

वयालीस भावो मे से ये विशेषताएँ केवल नौ मे ही है और इसीलिए शेष तेतीस से उनको पृथक् करके स्थायी भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है।

मनोविज्ञान मे मनोविकार या भाव के केवल तीन रूप ही माने गए है :

१. मौलिक मनोविकार (Primary Emotion)—जो स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है, जैसे—भय।

२ व्युत्पन्न मनोविकार (Derived Emotion)—जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहा है, जैसे—आशंका।

३. मनोवृत्ति (Sentiment)—जो मनोविकारो के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे—क्लैव्य।

अब आप देखे कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नही कह सकते। उदाहरण के लिए निर्वेद या शम एक शुद्ध मनोविकार नही है। एक से अधिक मनोविकारो का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्त्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है। अद्भुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टः ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नही उठता, क्योकि इनसे से सभी व्युत्पन्न नही है। भय क्रोध, आदि स्पष्टतः ही मौलिक है। अब रह जाती है मनोवृत्ति—तो स्थूलत स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत-कुछ समरूप होता हुआ भी अन्तत. उससे भिन्न है।

समता—१ मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (सचारी) भावो की अपेक्षा स्थायी होता है।

२. मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है जिसमे अन्य भाव संचरण करते रहते है।

विषमता—परन्तु दोनो मे कुछ मौलिक अन्तर भी है :

१. मनोवृत्ति एक व्याप्त मन स्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नही हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है, मनोवृत्ति स्वय का नहीं। उदाहरण के लिए देश-भक्ति का आस्वादन कभी नही होता, उसके आश्रित या सचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है; परन्तु स्थायी के विषय मे यह बात नही है, उसका सचारी ही नही वह स्वय भी समग्रत आस्वाद्य है। क्लैव्य मनोविकार का कारण है स्वय मनोविकार नही है, परन्तु भय स्वय ही मनोविकार है।

२ मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है हर्ष की आवृत्ति करते रहिए, पर वह रति नहीं बन पाएगा।

३. मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थायी भाव (शम को छोड़कर) विचारमूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप में तो साहित्य-शास्त्र के स्थायी भाव स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषाओं में पूरी तरह नहीं घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ में शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्गमन की विधि में स्थायी संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद में आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचाकर इन्हीं की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष बनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप में सामने रखी जा सकती है :

१. मानव-हृदय में उठने वाली तरंगों के योग से जो विभिन्न मनोविकार बनते हैं उनकी संख्या बयालीस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के हैं। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य हैं, अतएव इनको विशेष महत्त्व दिया गया है और पारिभाषिक शब्दावली में स्थायी की संज्ञा दे दी गई है।

२. इस प्रकार के अर्थात् रस में परिणत होने योग्य भाव केवल नौ ही हैं—अन्य भाव या तो इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं, जैसे दानशीलता, धर्म-प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते हैं (आज के गांधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देश-भक्ति, भगतसिंह का आतंकवाद तथा राहुल सांकृत्यायन की साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टतः उत्साह के ही अंतर्गत आ जायेंगे); और या फिर रस दशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण स्थायी पद के अधिकारी नहीं बन पाते—उदाहरण के लिए (शास्त्र के अनुसार) 'वात्सल्य' या देवादि-विषयक रति भाव ही है—'स्थायी भाव' नहीं हैं।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं :

१. क्या स्थायी और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है?

२. क्या स्थायियों की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तेंतीस ही?

पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन में ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ तो दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक (शुद्ध) और व्युत्पन्न मनोविकार का; दूसरा मनोविकार

और मनोवृत्ति का। स्थायित्व तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नही करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है, जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नही करता। परन्तु फिर भी जीवन मे इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही, और रहेगा भी। विज्ञान इस पचडे मे नही पडता, क्योकि यह सब उसकी परिधि से वाहर है; परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, तो इसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसी प्रकार भाव-क्षेत्र में भी एक दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अर्थात् तीव्र एवं स्थायी है; अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नही होनी चाहिए। मनोविज्ञान इसका विवेचन नही करता, परन्तु साहित्य के लिए इसका संबंध भाव के जीवनगत उपयोग से है, इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक मूल्य के आधार पर स्थायी भावो का औचित्य-विधान किया है। वह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिन्ता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिन्ता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा, इसी प्रकार चिन्ता की अपेक्षा शोक मे स्थायित्व भी स्पष्टत. अधिक है—शोक में चिन्ता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिन्ता मे शोक निमग्न नही हो सकता। चिन्ता की अपेक्षा शोक वास्तव मे अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावो के विषय मे भी कहा जा सकता है।

सक्षेप मे, यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान मे इस प्रकार का विभाजन नही मिलता, परन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एव अमनोवैज्ञानिक नही कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तव मे जीवन के उन तीव्र और व्यापक मनोविकारो की है, जो मानव-स्वभाव के मूल अंग है, पाश्चात्य दर्शन मे जिन्हे साधारणत. मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) कहा गया है। इन मनोवेगो का सीधा सम्बन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहकार, जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अह (ego) या आत्माभिव्यक्ति (self-expression) के रूप मे निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियां है . राग और द्वेष जो मानव-जीवन के दो मौलिक अनुभवो, सुख और दु.ख, के वैज्ञानिक पर्याय मात्र है—'सुखात् राग, दुःखात् द्वेष।' आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र मे इन्हे ही प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) और नाश करने की प्रवृत्ति (Tha-

natos) कहा गया है। और गहरे मे जाएँ तो फ्रायड का 'काम' मूलत. राग ही है, और एडलर का 'हीन भाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेपको के इस विषय मे तीन मत हैं—एक फ्रायड का, जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है; दूसरा एडलर का, जो हीन-भाव या क्षति-पूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युग का जो इन दोनो को जीवनेच्छा (या स्वत्व-रक्षा)—हमारे शब्दो मे अस्मिता—के पोषण की शाखाएँ मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धात सामान्यत. स्वीकृत है।

उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष, भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत् का विस्तार होता है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढग से प्रदर्शित किया है, सस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावो का इन्ही मूल भावो के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणत· अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं, और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा, अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत। निर्वेद मे इन दोनो का सामञ्जस्य हो जाता है। उसमे अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति है, दूसरे कटु होने के कारण दु ख की। निर्वेद मे दोनो का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नही कि यह विभाजन आत्यन्तिक नही है-- तत्वत तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव मे जैसा कि मनोविश्लेपक कहता है राग और द्वेष (Libido and Thanatos) के सघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन (Psychic Life) संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप मे आपको द्वेष का अश मिले या शोक मे राग का, तो चौकना नही चाहिए, यो तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नही है।

रसो और भावों की संख्या—अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। यह मान लेने पर कि स्थायी भावो की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगो (Elemental Passions) की स्थिति से अभिन्न है और इस प्रकार के विभाजन का एक सक्षम आधार भी है ही, जो अमनोवैज्ञानिक नही है, एक और प्रश्न उठता है कि क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही हैं अर्थात् क्या मनोभावो की संख्या नौ ही है, कम-अधिक नही? यह प्रश्न सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अनेक वार उठा है। स्थायी भावो को वढाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है—उन सभी को केवल एक मूल स्थायी भाव के अन्तर्भूत करने की चेष्टा की गई है, परन्तु अन्त में परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावो की सख्या नौ ही है और नौ ही होनी चाहिए। भरत ने मूलत आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने हैं; उनमें भी शृगार, वीर, रौद्र, और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह, क्रोध और जुगुप्सा को

प्रधान और मौलिक माना है; और हास्य, करुण, भयानक तथा अद्भुत तदनुसार हास, शोक, भय तथा विस्मय को गौण एव व्युत्पन्न माना है। उन्होंने—

शृंगार से हास्य—तदनुसार रति मे हास,
वीर से अद्भुत— ,, उत्साह से विस्मय,
रौद्र से करुण— ,, क्रोध से शोक,
वीभत्स से भयानक— ,, जुगुप्सा से भय,

की उत्पत्ति मानी है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नही किया। वाद मे 'शान्तोऽपि नवमो रस.' कहकर शात भी जोड दिया गया। पहिले पडितो का मत था कि शात की उद्भावना उद्भट ने की, परन्तु आज प्रायः अभिनय के आधार पर भरत को ही इसका भी श्रेय दिया जाता है। इसके उपरांत रसो और स्थायी भावो की संख्या को वढ़ाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमे सवसे महत्वपूर्ण दो है—१. विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थायी की प्रतिष्ठा। २. भक्त आचार्यो, विशेषकर रूपगोस्वामी द्वारा भक्ति रस और भगवत्-रति स्थायी की प्रतिष्ठा।

परन्तु पडितराज जगन्नाथ और उनके वाद के आचार्यो ने इन उद्भावनाओं का निषेध किया। पडितराज ने तो वीर के भी युद्ध-वीर आदि अतर्विभाजन को निरर्थक घोषित किया, क्योकि इस प्रकार तो पाडित्यवीर आदि अनेक अवान्तर भेद होते जायेगे।[1] इन परम्परा-दृढ़ पडितो ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति के अयोग्य ठहराकर 'भाव'-मात्र ही माना। इसमे सन्देह नही कि साधारण व्यक्ति के लिए देवादि-विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नही वढ पाती; क्योकि उसका आलम्वन परोक्ष एवं अमूर्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति मे असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा, सूर, तुलसी की भक्ति रस-दशा को प्राप्त नही कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, लेकिन हाँ इनकी भक्ति को उसकी अन्तःप्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होने प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन किया है—वहाँ भी, कही तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है, जैसे—सूर के अनेक पदो मे, जिनमे

१. वस्तुतस्तु वहवो वीररसस्य शृंगारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथा हि—प्राचीन एव 'रुपदि विलयमेतु' इत्यादि पद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैतु सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि संभवात्। न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम्। दानदययोरपि तदन्तर्गतया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात्पृथग्गणना नौचित्यात्। एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।

रसगंगाधर (जगन्नाथ)
काव्यमाला संस्करण, पृष्ठ ५०

कृष्ण की रूपमाधुरी का अकन किया गया है, और कही स्पष्ट निर्वेद का; जैसे—तुलसी के बहुत से पदो मे, जहाँ ससार की असारता और कराल कलि-काल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना की गई है। शेप कुछ ऐसे पद रह जाते है, जिनमे प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पडेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्ही निर्णीत स्थायी भावो मे रह जाता है। जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है। वैसे भी आज के मनोविश्लेषको ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है। परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी। क्योकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा – पुत्रैषणा—से है। विदेश के सभी मनोवैज्ञानिको ने भी मातृ-वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एव प्रधान वृत्ति माना है। वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बडी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है। दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढग पर विस्तार न किया जाय, वात्सल्य को रति के अन्तर्गत भी नही माना जा सकता। सूर के वात्सल्य-चित्रो को क्या रस का अधिकारी नही माना जायगा, या उनको शृंगार के अन्तर्गत रख दिया जायगा? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है, जैसे मैत्री, जिसको ध्यान मे रखकर ही रुद्रट ने 'प्रेयान' रस का आविष्कार किया था। परन्तु वास्तव मे मैत्री शुद्ध भाव न होकर एक मनोवृत्ति है, जिसमे अनेक भावों का सम्मिश्रण रहता है। साधारणत यह भाव रस-दशा को नही पहुँच पाता—वृत्तियो का पूर्ण सामजस्य और निलय केवल मित्र भाव के कारण नही हो पाता; जहाँ कही होता है वहाँ उसमे काम या उत्साह जैसे किसी प्रगाढ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे रस—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र मे अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ मे सेटीमेंट (Sentiment) शब्द का प्रयोग किया है और साधारणत. काव्यगत मनोवेगो को सुन्दर (Beautiful), उदात्त (Sublime), करुण (Pathetic) और हास्यमय (Humorous)—इन चार रूपो मे विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौंदर्य भाव वास्तव मे निरपेक्ष मनोविकार नही है। वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी वृत्तियो मे सामजस्य-मात्र ही स्थापित होता है तो प्रतिक्रिया हर्ष है, यदि उसके प्रति स्थायी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है तो रति हो जायगी और यदि उसको देखकर चित्त चमत्कृत होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायगी। इन तीनो या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्ररूप से पृथक् सौंदर्य-भावना का कोई अस्तित्व नही है सौंदर्य-भावना जिस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है, उदात्त भावना उसी प्रकार आश्रय मे हर्ष, भय और विस्मय का योग है, और आलम्बन

मे हर्ष और उत्साह का। वह भी निरपेक्ष भाव नही है। उसे स्थिति के अनुसार संस्कृत का रस-शास्त्र अपने अद्भुत और वीर मे अतर्भूत कर सकता है। 'गीता' मे कृष्ण का विराट् रूप अद्भुत के अन्तर्गत आयगा, 'रामायण' मे दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तर्गत। यद्यपि यह मानने मे आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनो को ही उदात्त या महान् कहना अधिक सगत होगा, परन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि उदात्त शब्द अधिक सचित्र तो है, पर वैज्ञानिक नही है। शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों शास्त्रो मे एक ही है।

मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव—आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने जीव की मूल प्रवृत्तियो का अन्वेषण करके स्थूलत. उनकी सख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया है (ये प्रवृत्तियाँ मानव और मानवेतर प्राणियो मे समान रूप से विद्यमान है) परन्तु इन वैज्ञानिको के निर्णय एक-स्वर नही है। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव-मन एक गहन समुद्र है, जिसकी तरगो अथवा वीचियो की निश्चित गणना करना साधारणत: सम्भव नही है। मैक्डूगल महोदय ने प्रवृत्तियो और उनसे सम्बद्ध मनो-विकारों का वर्णन इस प्रकार किया है :

प्रवृत्ति	प्रवृत्तिगत भाव
१. भोजनोपार्जन (भोजन अर्जन करने की प्रवृत्ति)	क्षुधा
२. अपकर्षण (किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति)	घृणा (जुगुप्सा)
३ काम (प्रेम और यौन सबध स्थापित करने की प्रवृत्ति)	रति
४. भय (दु खदायी वस्तु से वचकर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति)	भय
५ जिज्ञासा (नवीन और अद्भुत वस्तुओ के अन्वेषण की प्रवृत्ति)	औत्सुक्य
६ सामाजिकता (सजातीय व्यक्तियो का साहचर्य-लाभ करने की प्रवृत्ति)	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७ मातृ-भावना (अपत्य-स्नेह) (बच्चो का सरक्षण करने की प्रवृत्ति)	वात्सल्य
८. आत्म-प्रतिष्ठा (अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने, दूसरे पर रौब जमाने की प्रवृत्ति)	गर्व (अहकार)
९ अधीनता (अपने से अधिक वलवान् के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति)	दैन्य (कार्पण्य)
१०. क्रोध (बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न-भिन्न कर देने की प्रवृत्ति)	क्रोध

११. आर्त्तप्रार्थना (स्वय विफल एव निराश हो जाने पर दूसरो की सहायता माँगने की प्रवृत्ति) — दु खकातरता (distress)

१३. निर्माण (आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति) — सृजनोत्साह

१३. परिग्रह (वाञ्छित वस्तुओ को प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति) — अधिकार-भावना

१४. हास्य (दूसरो के दोषो और विकृतियो पर हँसने की प्रवृत्ति) — हास

पहले मैक्डूगल ने ये १४ ही प्रवृत्तियाँ मानी थीं, परन्तु बाद में चार और जोड दी :

आराम (Comfort)—ऐसे स्थान की खोज करना, जहाँ शरीर को सुख मिले।

निद्रा—विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति।

भ्रमण—नवीन स्थानो मे भ्रमण करने की प्रवृत्ति।

कफ, छीक, श्वास-प्रश्वास, मोचन आदि।

इनका सम्बन्ध स्पष्टत. शारीरिक क्रियाओ से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मन.स्थिति बहुत स्पष्ट एव विशिष्ट नही होती। निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नही है। उपर्युक्त चौदह प्रवृत्तिमूलक मनोविकारो मे भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य मे उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिये, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नही हैं। वे स्पष्टतः एक-दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहकार की परिधि मे ही आ जाते है। कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नही है। वास्तव मे वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य, वात्सल्य, अहकार, कार्पण्य, सहानुभूति (सगेच्छा)। इनमे पहले सात तो सस्कृत स्थायी भावो से प्रायः अभिन्न ही है। अहकार और उत्साह मे भी कोई विशेष अन्तर नही है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वात्सल्य मे सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नही होती। यही बात संगेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब सस्कृत साहित्य-शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक ! क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनो शोक (करुण) के तत्त्व नही माने जा सकते ?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसो की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नही है। स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नही है और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नही है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नही है। परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण निर्दोष हो सकता है ?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण है—एक तो इन तेतीस संचारियो मे कुछ स्पष्टतः ऐसे है जो शारीरिक क्रियाएँ ही अधिक है, मानसिक विकार उनमे गौण होता है। उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि। स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा। दूसरे हमारे नित्य-प्रति के अनुभव मे और भी अनेक ऐसे भाव आते है जिनकी स्थिति इन तेतीस से बाहर है। संस्कृत आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है, मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आए है, परन्तु उसने उन सभी का इन्ही मे अंतर्भाव कर दिया है, जैसे मात्सर्य का असूया मे, उद्वेग का त्रास मे, दंभ का अवहित्थ मे, ईर्ष्या का अमर्ष मे, क्षमा का धृति मे, उत्कण्ठा का औत्सुक्य मे। परन्तु आज इससे संतोष नही होता। इस तरह तो धृति का मति मे, विषाद का चिन्ता मे अंतर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे है जो इनकी परिधि से बाहर है। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अंतर्भेद या फिर द्वेष-पक्ष मे असंतोष, अवमान, अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डॉक्टर भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारो की गणना की है, जिनमे उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्य-शास्त्र के तेतीस या बयालीस संचारियो की परिधि से बाहर पडते है। वास्तव मे, जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारो की गणना करना तथा उनका पृथक् रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नही असम्भव भी है, क्योकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन मे असंख्य तरंगे उठती है, जो एक दूसरे से अनेक रूपो मे मिलकर न जाने कितने मनोविकारो का आविर्भाव करती है। साधारणतः मौलिक मनोविकारो की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र और व्युत्पन्न मनोविकारो का तो अंत ही कहाँ है ?

अन्त मे मेरे निष्कर्ष ये हैं :

१ आरम्भ मे तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र के स्थायी भावो का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था, परन्तु बाद मे दार्शनिक आचार्यों

ने मीमासा आदि के वल पर उन्हे व्यापक वनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है।

२. आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नही है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मन.शास्त्रो की कसौटी पर वह वहुत अशो मे खरा उतरता है। सचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव की स्थिति मौलिक मनोवेगो की है, जो अपनी शक्ति स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की सचालक एव प्रेरक वृत्तियाँ है।

३. इन मनोवेगो की सख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि सस्कृत के आचार्यो ने अपने नौ स्थायियो के अतर्गत ही सव सशक्त मनोवेगो का समाहार कर दिया है, इस सख्या को सर्वथा निर्दोप और पूर्ण नही माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि मे भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी सचारियो के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम-से-कम कुछ एक मे (जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि मे) रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पडेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेप व्याख्या के द्वारा स्थायी की स्थिति वहुत कुछ वैज्ञानिक वन सकती है।

सचारियो का वर्णन और विवेचन स्पष्टत. अपूर्ण और सदोप है। उनमे से ऐसे सचारी भावो को तो निकालना ही पडेगा जो मुख्यत· शरीर के धर्म है। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। आलोचक अधिक-से-अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारो को नाम और परिभापा दे दी गई है, उनका काव्य-सामग्री के विश्लेपण मे मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग कर ले। वस, इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नही है।

अलंकार-सम्प्रदाय

अलकार-निरूपण—अलकार का भी सवसे पूर्व उल्लेख भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे ही मिलता है। भरत ने केवल चार अलकारो का ही निरूपण किया है—और वह भी रूपक के सम्वन्ध से ही। अलकार का सवसे प्रथम ग्रथ, जिसमे उसका क्रमवद्ध वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है, भामह का 'काव्यालकार' है। भरत के उपरान्त रस रूपक का ही मुख्य अग माना जाने लगा था, काव्य मे उक्ति का चमत्कार ही मुख्य था। भामह ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया। उसने दृश्य-काव्य की सर्वथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्य काव्य के अंगो का—प्रधानत अलंकारो का ही व्याख्यान किया है। परन्तु भामह का विवेचन इतना व्यवस्थित और पूर्ण है कि उसको अलकार-शास्त्र का एक साथ पहला ग्रन्थ मान लेना उचित नही प्रतीत होता। अलंकार की परम्परा भी रस-परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। और भामह

ने स्वय भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानतः अलकार-परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी मे हो रहा था जब से पडितो ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी—मेधाविन् इसी विकास-पथ का कोई प्रमुख मार्ग-चिह्न था।

मेधाविन् केवल नामशेष है, अतएव उन्होने कितने अलकारो का विवेचन किया है, यह अज्ञात है। भरत ने प्रसगवश केवल चार अलकारो का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि भरत ने अलकारो को वाचिक अभिनय का एक साधारण अग ही माना है। 'नाट्य-शास्त्र' के बाद दूसरा ग्रन्थ 'भट्टिकाव्य' है, जिसके दशम सर्ग में यमक अनुप्रास सहित ३८ अलकारो का उल्लेख है। भामह ने भी अलकारो की संख्या ३८ मानी है और वक्रोक्ति को उन सबका प्राण माना है। उन्होने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अग माना है और इसका प्रमाण यह है कि उन्होने रस और भाव का स्वतत्र अस्तित्व न मानकर उसका रसवत्, ऊर्जस्वित् आदि अलंकारों मे ही अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य का प्राण है अलंकार, और अलंकार का प्राण है वक्रोक्ति :

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥ काव्यालंकार २।८५

इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु और लेश को उन्होने अलकार-सीमा से बहिष्कृत कर दिया है।

वक्रोक्ति का अर्थ है शब्द और अर्थ की विचित्रता। इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम है :

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। काव्यालकार १।३६

भामह के उपरान्त दण्डी ने अलकार के विवेचन को और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होंने काव्य को अलंकार का शोभाकर धर्म माना, अर्थात् उन्होने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सर्वथा अलकार के आश्रित है; अतएव अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। दडी ने उनकी सख्या ३५ मानी है, भामह के कुछ अलकार-भेदो को (जैसे उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षावयव आदि को) उन्होने छोड दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को, जिन्हे भामह ने वक्रोक्ति के अभाव मे अलकार की पदवी नही दी थी, दडी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक, चित्रबध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्व तथा विस्तार दिया है। दडी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलकार की आत्मा माना है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहु: परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥ काव्यदर्श २।२२०

परन्तु वास्तव मे दोनो के आशय मे केवल शब्द-भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति से ही है। जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है **'एवं चातिशयोक्तिरित वक्रोक्तिति पर्याय इति बोध्यम्'—और दोनों का अर्थ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चैवातिशयः × × × अनया अतिशयोक्त्या विचित्रया भाव्यते**[1]। भामह की अपेक्षा दडी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने अलकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया है। दडी के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलकार-सम्प्रदाय की और भी अधिक श्री-वृद्धि की। उद्भट ने यद्यपि लक्षण-निरूपण आदि मे भामह का ही अनुसरण किया है—'भामह-विवरण' नाम से उसने भामह के सिद्धान्तो की व्याख्या भी की है—परन्तु उसका विवेचन इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती आलकारिको ने मुक्तकंठ से उद्भट की महत्ता को स्वीकार किया है। संक्षेप मे उद्भट का आभार इस प्रकार है :

१ उद्भट ने दृष्टात, काव्यलिग और पुनरुक्तवदाभास की सर्वथा नवीन उद्भावना की, अनुप्रास के प्रभेदो मे वृद्धि की, और इस प्रकार अलकारो की सख्या को ३८ से ४१ तक पहुँचा दिया।

२. श्लेष के उसने दो भेद किए—१. शब्द-श्लेष, २. अर्थ-श्लेष; और दोनों को अर्थालंकार माना। बाद मे मम्मट आदि ने इसका निषेध किया है।

३. व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका 'काव्य-प्रकाश' मे वर्णन है, सबसे पूर्व उद्भट ने ही किये।[2]

अलंकार-सम्प्रदाय का सर्वप्रमुख आचार्य था रुद्रट। यद्यपि रुद्रट की दृष्टि अत्यत व्यापक और उदार थी और यद्यपि उसने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सम्प्रदायो का समन्वय भी किया फिर भी अलकार-शास्त्र ही उसका विशेष रूप से ऋणी रहेगा। रुद्रट ने एक तो अलकारो के सूक्ष्म भेद-प्रभेदो का स्पष्टीकरण करके उनकी सख्या का विस्तार ५० से ऊपर कर दिया, दूसरे वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलकार-शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। रस और भाव को अलकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी उसका संशोधन सबसे पूर्व रुद्रट ने ही किया। उसने रसवत् आदि को अलकार मानने से साफ इन्कार कर दिया

१. लोचन—अभिनव गुप्त
२ काणे-कृत—'साहित्यदर्पण' की भूमिका

और इस प्रकार एक वहुत वडे भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रुद्रट तक अलकार-सम्प्रदाय का सुवर्ण काल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलकार को ही प्रधानता देते थे। भामह और दडी ने गुण और अलंकार मे कोई अन्तर नही माना। 'उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणाम् प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ॥' रुद्रट के उपरान्त ध्वनि-सप्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य मे शब्द-चित्र अथवा वाच्य-चित्र-रूप अलकार ही हो, व्यग्यार्थ न हो, वह अधम माना गया। अलकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने मे स्वतन्त्र है और न काव्य का अनिवार्य अग ही है। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त सस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे क्या, भारतीय साहित्य-शास्त्र मे भी यही मत मान्य रहा।

इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलकार को उचित गौरव दिया। उन्होने काव्य को सालकार माना, परन्तु फिर भी 'अनलकृती पुनः च क्वापि" कहकर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होने प्राचीन सभी सिद्धातो की सम्यक् परीक्षा करते हुए काव्य-पुरुष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया। उन्होने गुण और अलकार का भेद स्पष्ट किया। गुणों को काव्य का साक्षात् धर्म माना और अलंकारों को काव्य के अगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना।

> उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ काव्यप्रकाश ८।६७

अलकार काव्य के अग अर्थात् शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा वढाते हुए काव्य का उपकार करते है— चमत्कृति मे योग देते है। काव्य मे उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व मे हार आदि आभूषणो का। और स्पष्ट रूप मे —"शब्द अर्थ काव्य के शरीर है और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियाँ अगरचना के सदृश और उपमादिक अलंकार कटक-कुण्डल आदि के तुल्य होते है।"[1]

अर्थात् अलकार काव्य के अस्थिर धर्म है।

अलंकार के विवेचन मे मम्मट ने भामह, दडी, उद्भट, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतो की परीक्षा करते हुए अनेक परिवर्तन और परिशोधन किये। अलंकारों की सख्या अब ७० हो गई। ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार। "इनमे अतद्गुण, माला-दीपक, विनोक्ति, सामान्य, और सम ये पाँच अलंकार नवीन है। और संभवत श्री

१. साहित्य दर्पण--विमला टीका (प्रथम परिच्छेद)

मम्मट द्वारा आविष्कृत है।"

मम्मट के उपरान्त रुय्यक ने 'अलकार-सर्वस्व' की रचना की। रुय्यक ने 'विचित्र' और 'विकल्प' अलकारो की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलकारो का वर्गीकरण। रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त मानते हुए उसने निम्नलिखित वर्गों की उद्भावना की—सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखलाबद्ध, न्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिमूल, और सकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग मे न रखकर स्वतंत्र माना। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार शास्त्र मे कोई विशेष योग नही दिया। इसमे संदेह नही कि जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि पंडितों ने एक बार फिर अलकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का भरसक प्रयत्न किया।

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रालोक १।८

—की आह्वान-ध्वनि के साथ अलकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नींव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। उसके उपरान्त अलकार-परम्परा हिन्दी के रीति-कवियो के हाथ मे चली गई। हिन्दी मे भी यद्यपि आचार्य केशवदास ने कविता और वनिता के लिए अलकार को अनिवार्य माना तथा अन्य कवियों ने भी अपने लक्षणग्रथो मे 'चन्द्रालोक' आदि की शैली का अनुसरण किया परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

अलकार की परिभाषा और धर्म—अलकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते है—अलंकरोतीति अलकार: अर्थात् जो सुशोभित करता है, वह अलंकार है; अथवा अलक्रियतेऽनेनेत्यलकार: अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलकार है। साधारणत. दोनों का आशय एक ही है, परन्तु पहले अर्थ मे अलकार कर्त्ता या विधायक है, दूसरे मे करण-साधन है। वास्तव मे अलंकार के विकास मे ये दोनों व्युत्पत्ति-अर्थ अपना महत्व रखते है—व्युत्पत्ति-अर्थ मे यह अन्तर इस बात का द्योतन करता है कि अलंकार किस प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर साधन-मात्र रह गया। अलकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक सगत है—जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन-मात्र है।

सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अलकार की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ है—पहली है अलकारवादी दडी की। इसके अनुसार 'काव्य-शोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते'—अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म है। इससे दो परिणाम निकलते है:

१. अलंकार काव्य के धर्म—अर्थात् सहज गुण—है।

२. काव्य की शोभा अथवा सौंदर्य अलकारो पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त परिभाषा अलकार-सम्प्रदाय का सिद्धात-वाक्य रही। परन्तु बाद मे जब

ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और रस की स्थापना स्थिर रूप से हो गई, अलकार की परिभाषा भी वदल गई। रसवादी विश्वनाथ के शब्दो मे :

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत ॥१॥ साहित्यदर्पण १०/१

'शोभा को अतिशयित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है, वे अंगद (बाजूवन्द) आदि की तरह अलकार कहाते हैं।' इससे निम्नलिखित परिणाम निकलते है :

१ अलकार काव्य के सहज एव अनिवार्य गुण नही है। केवल अस्थिर धर्म है, अर्थात् कभी वर्तमान रहते है, कभी नही।

२. काव्य की शोभा (सौदर्य) अलकार पर निर्भर नही है। सत्काव्य मे अलंकार जहाँ वर्तमान भी रहता है, वहाँ शोभा की सृष्टि नहीं करता केवल वृद्धि ही करता है।

३. काव्य का सौदर्य है रस, अलकार का गौरव उसी का उपकार करने मे है। अर्थात् सत्काव्य मे अलकार का स्वतत्र अस्तित्व भी मान्य नही है।

उक्ति के चमत्कार का नाम अलकार है इसमे तो किसी को भी विरोध नही है परन्तु आगे दो प्रश्न उठते है :

१. क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है ?

२. क्या काव्य मे उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है ? अर्थात् क्या प्रत्येक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवार्यत वर्तमान रहता है ?

अलकार और रस-सम्प्रदाय के वीच जो द्वद्व रहा वह इन्ही प्रश्नों पर अवलम्बित था। अलकार-सम्प्रदाय दोनो का उत्तर "हाँ" मे देता था, रस-सम्प्रदाय "नही" मे; अर्थात् अलकार-सम्प्रदाय का मत था कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य-पद की अधिकारिणी है और प्रत्येक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान होना चाहिए इसके विरुद्ध रस-सम्प्रदाय का कहना था कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है, और न प्रत्येक काव्योक्ति मे ही चमत्कार अनिवार्यत वर्तमान रहता है।

इन प्रश्नो को एक-एक करके लीजिये। क्या प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य है ? इसका उत्तर देने के लिए पहले चमत्कार का आशय स्पष्ट करना चाहिए। चमत्कार की मूल वृत्ति है कौतूहल। किसी असामान्य वस्तु को देखकर अथवा असाधारण उक्ति को सुनकर हमारी कौतूहल वृत्ति जागृत होकर तृप्त होती है। काव्य मे असाधारणता होती अवश्य है, परन्तु काव्य की मूल वृत्ति कौतूहल नही है। काव्य का आनन्द वासनाओं की उद्बुद्धि, दूसरे शब्दो मे भावो की झंकृति से सबंध रखता है। इसमे सदेह नही कि उसके सारभूत प्रभाव मे कवि की लोकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल एव विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु वह सर्वथा गौण है, और रसानुभूति के समय उसकी पृथक् सत्ता

नही होती। अतएव काव्य के लिए वह चमत्कार, जो केवल हमारी कौतूहली वृत्ति को शांत करता है, किसी प्रकार भी अनिवार्य नही हो सकता। काव्य का चमत्कार (जिसकी आचार्यों ने चर्चा की है) जिसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रमणीयता की सज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है, वास्तव मे हमारे कौतूहल या विस्मय को नही जगाता। वह हमारा भाव-वृत्तियो को ही जगाता है। इसलिए वह भाव की रमणीयता के ही आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारो के नही। वह सहानुभूति या सहजानुभूतिजन्य हे, विस्मयजन्य नहीं है। इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति, जिमका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियो के सुलझाने से सबंध रखता है, या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्य-पद की अधिकारिणी कभी नही हो सकती। यही कारण है कि चित्र-काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमे भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन मे हल्की-से-हल्की भी भाव-तरग नहीं उत्पन्न करता, वहाँ हमारे हृदय मे लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सभव नही है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता। जिसमे भाव का योग है, वही काव्यानन्द दे सकता है। जिसमे भाव का योग नही, जो बौद्धिक विधान-मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही देगा। उसमे ऐन्द्रियता का रस नही होगा।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये। क्या काव्य अनिवार्यत. उक्ति-चमत्कार के ही आश्रित है? अलकार के समर्थ पृष्ठपोषक मम्मट ने भी स्पष्ट रूप मे 'अनलकृती पुनः क्वापि' कह दिया है। विश्वनाथ आदि ने अलंकारो को शोभातिशायी एवं अस्थिर धर्म कहा है। परन्तु इसके विपरीत भामह और कुन्तक ने वक्रता को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। वक्रता से उनका तात्पर्य है, लोकाक्रातगोचरता या वैदग्ध्यभंगी-भणिति का अर्थात् अभि-व्यक्ति की असाधारणता या अनूठेपन का। वास्तव मे ये दोनो सिद्धांत ही अपने-अपने ढंग से ठीक है। रसवादियो का यह सिद्धात कि रमणीयता मूलत भाव के आश्रित है, सर्वथा निर्भ्रांत है, परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता सर्वथा साधारण शब्दो द्वारा—बिना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह सभव नही। भाव के सौंदर्य से उक्ति के सौंदर्य मे चमक आप-से-आप आ जायेगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे कहे तो यह कह सकते है कि भाव का सौंदर्य और उक्ति का सौंदर्य दो

सर्वथा भिन्न तत्त्व नही है। अनुभूति और अभिव्यक्ति मे निश्चित पार्थक्य नही किया जा सकता। इसलिए काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार-शरीर भी अनिवार्यत. रमणीय ही होगा। अर्थात् काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवार्य ही है, परन्तु रमणीय उक्ति—वक्र उक्ति—भी स्वभावत. अनिवार्य है, क्योकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के विना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए हमे अलंकार की परिधि को परिगणित रूढि-अलकारो तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यजना के प्रयोगो को भी उसमे अन्तर्भूत करना होगा।

अलंकार और अलंकार्य का भेद—सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे रस (भाव), वस्तु और अलकारो तीनो की पृथक् स्थिति मानी गई है। अलकार रस (भाव) का उपकार करता है—अर्थात् उसको तीव्रतर करता है—और वस्तु के चित्रण मे रमणीयता अथवा आकर्षण उत्पन्न करता है। अतएव रस (भाव) और वस्तु दोनो अलकार्य हुए और अलंकार उनके अलंकरण का साधन। उदाहरण के लिए यदि हम निम्नलिखित दोहे को ले :

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै, झीने अंचल चीर।
मनहुँ कलानिधि झलमलै, कालिन्दी के तीर ॥[१]

तो 'झीने नील अचल मे नायिका का मुख अत्यन्त सुन्दर लगता है'—यह तथ्य तो है 'वस्तु', नायक के हृदय मे उसके प्रति जो आकर्षण अथवा अनुराग उत्पन्न हुआ है वह है भाव (रस), और 'मानो कालिन्दी के जल मे कलानिधि झलमला रहा है' यह अप्रस्तुत विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलकार वस्तु के चित्रण को रमणीय वनाता हुआ भाव को भी रमणीय वना देता है।

संस्कृत का आचार्य अलकार और अलकार्य का इस प्रकार पृथक् विवेचन करता है, और पश्चिम का प्राचीन अलंकार-शास्त्र भी इससे सहमत है। परतु कला और अभिव्यजना के नवीन सिद्धांत इससे मेल नही खाते। क्रोचे और उसके अनुयायी अभिव्यजनावादियो ने स्पष्ट शब्दो मे अलकार और अलकार्य का अन्तर अनर्गल और निराधार माना है : "One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally ? In that case it must always remain separate. Internally ? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole."[2]

---

१. विहारी सतसई
2 Expression & Rhetoric—Croce.

"यह पूछा जा सकता है कि उक्ति (अलंकार्य) मे अलकार का किस प्रकार समावेश किया जा सकता है ? वाहर से ? तव तो वह फिर सदैव ही उक्ति से पृथक् रहेगा। भीतर से ? ऐसी दशा मे या तो वह उक्ति का साधक न होकर वाधक हो जायगा, या फिर उसका अग वनकर अलकार ही न रह जायगा। तत्र तो वह उक्ति का ही एक मूल तत्व होकर उससे सर्वथा अभिन्न वन जायगा।" स्पष्ट शब्दो मे इसका आशय यह हुआ कि उक्ति और अलकार मे भेद नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए उपर्युक्त दोहे मे सस्कृत साहित्य की दृष्टि से जो वस्तु, भाव और अलकार मे भेद किया गया है, वह क्रोचे और उसके अनुयायियो को स्वीकार नही है। 'झीने अचल मे नायिका का मुख सुन्दर लगता है' यह एक वात हुई—'झीने अंचल मे नायिका का मुख ऐसा सुन्दर लगता है, मानो कालिन्दी के जल मे चद्र-विम्ब झलमला रहा हो' यह दूसरी वात। दोनो उक्तियो की भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। नायिका के इस रूप विशेप को देखकर नायक या (कवि) के हृदय में सौंदर्य की जो रमणीय चेतना हुई वह एक ही रूप मे व्यक्त की जा सकती थी—वह चेतना अखंड थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति को भी खडों मे विभाजित नही किया जा सकता।

गिरा और अर्थ की यह अभिन्नता भारतीय आचार्य को अविज्ञात थी, यह वात नही। वैयाकरणो ने इस प्रसग को लेकर काफी चर्चा की है। परन्तु तत्त्व-रूप मे अभिन्नता मानते हुए भी व्यवहार-रूप मे फिर भी हमारे यहाँ पार्थक्य स्वीकार नही किया गया है। वास्तव मे इस सिद्धात का मूल सम्वध अद्वैत दर्शन से है। अद्वैतवादी तत्त्व-रूप मे प्रकृति और पुरुप की अभिन्नता मानता है। क्रोचे की भी स्थिति अद्वैतवादी से वहुत भिन्न नही है—उसने आत्मा की अद्वैत स्थिति की अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे स्थापना की है। क्रोचे भी मूलत. दार्शनिक ही है। उसने सौंदर्य-शास्त्र का विवेचन दार्शनिक सिद्धातो के ही स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु इतना होते हुए भी भारतीय दार्शनिक व्यवहार-रूप मे प्रकृति और पुरुप मे पार्थक्य स्वीकार करता है—'गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' और इसीसे प्रभावित होकर भारतीय आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहारगत भिन्नता मानता है, परन्तु इसके विपरीत क्रोचे किसी भी रूप मे उसे स्वीकार नही करता। इन दोनो की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनो मे व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य-शास्त्र वरन् भाव-शास्त्र और विचार-शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य-मनीपी भी प्राय- इसी के पक्ष मे है कि तत्त्व-दृष्टि से अलकार और अलकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार-दृष्टि से दोनो मे भेद मानना अनिवार्य है।

अलंकारो का मनोवैज्ञानिक आधार—अलकारो का आधार खोजने की चेष्टा सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे आरम्भ से ही मिलती है। आरम्भ मे ही भामह ने वक्रोक्ति को,

दण्डी ने उसी की समानार्थक अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारो का प्राण मानते हुए उनके मूलाधार का सफल निर्देश किया। इनके अतिरिक्त दण्डी ने एक स्थान पर श्लेष की ओर भी सकेत किया है। "श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्राय: वक्रोक्तिषु श्रियम्।"[1] उनके उपरान्त दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयत्न रुद्रट का है जिसने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलकारो का वर्ग-विभाजन किया। वास्तव श्रेणी मे २३ अलकार रखे गए है जिनमे वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है, औपम्य श्रेणी मे २१ अलकार है जिनका आधार सादृश्य है, अतिशय के अतर्गत १२ अलकार है जिनमे प्रसिद्धि-बाधा के कारण विपर्यय अथवा अतिलोक्यता का प्राधान्य होता है, श्लेष के अतर्गत अनेकार्थकता के चमत्कार पर अवलबित अलकारो की गणना है। रुद्रट के उपरात रुय्यक ने औपम्य, विरोध, शृ खला, न्याय, गूढार्थप्रतिपत्ति और सकर के आधार पर अलकारो को छह वर्गो मे विभक्त किया और बाद मे विद्याधर एवं विश्वनाथ ने न्याय को तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय, और लोक-न्याय इन तीन अवातर भेदो मे विभाजित करके रुय्यक के वर्गीकरण को ही लगभग ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया। विद्यानाथ ने अवश्य इस क्रम को थोडा-बहुत विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने औपम्य अथवा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य शब्द को अधिक उपयुक्त माना, और अध्यवसान एव विशेषण-वैचित्र्य, ये दो नवीन आधार आविष्कृत किये।[2] वास्तव मे जैसा कि डॉक्टर डे ने कहा है, उपर्युक्त कोई भी वर्गीकरण सर्वथा सगत नही है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक है, तो वाक्य-न्याय आदि का आधार सर्वथा काव्य के बाह्य रूप पर आश्रित है। इसका मुख्य कारण यह है कि

१. बाद में अभिनव गुप्त ने भी आनन्दवर्द्धन के समकालीन मनोरथ के इस सिद्धात "नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्" के प्रति सहमति प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलकारों का आधार स्वीकार किया है—वक्रोक्तिशून्य शब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्त.।

२. इधर आधुनिक युग में भी कुछ विद्वानों ने इस ओर रुचि प्रदर्शित की है। सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलकारों को निम्न भागों में विभक्त किया है—१. औपम्यमूलक, २. विरोधमूलक, ३. कार्यकारण-सिद्धात-मूलक, ४ अपह्नव-मूलक, ५. शृंखलावैचित्र्य-मूलक, ६. विशेषण-वैचित्र्य-मूलक, और ७. कवि-समय-मूलक। यह वास्तव में रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर-मात्र है—परन्तु इसको उससे अधिक सगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अपह्नवमूलक, विशेषण-वैचित्र्य-मूलक और कवि समय-मूलक वर्ग किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है, बाह्य और स्थूल सामान्यता पर ही आश्रित है। दूसरा व्रजरत्न जी का वर्गीकरण है। उन्होंने रुय्यक के औपम्य, विरोध, शृङ्खला और न्याय को तो ज्यों-का त्यों स्वीकार किया है, परन्तु गूढार्थप्रतिपत्ति को स्वतन्त्र नहीं माना। उसके स्थान पर एक नवीन वर्ग वस्तुमूलक अलकारों को मान लिया है जिसके अन्तर्गत उन सभी अलंकारों को जो उपर्युक्त चार वर्गों में नहीं आते, रख दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीनता किसी प्रकार भी अपनी उद्भावना को सार्थक नहीं करती।

स्वयं अलंकारो का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला है। उसका अधिकार शैली की सीमा को लाँघकर वस्तु तक ही नहीं वरन् न्याय. दर्शन वाणी और क्रिया तक फैल गया है। यूरोप के आचार्यों ने भी अलंकारो का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होने छह आधार माने है; साम्य, सम्बन्ध, अन्तर, कल्पना, वक्रता, और ध्वनि (नाद)। उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि को उन्होंने साधर्म्य के आश्रित माना है, अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित, विरोधाभास को वक्रता के, सार को अतर के, और यमक, अनुप्रास आदि को ध्वनि (नाद) के आश्रित। परन्तु संस्कृत के वर्गीकरण की भाँति यह भी अपूर्ण ही है' उदाहरण के लिए अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित मानना अत्यन्त विचित्र लगता है; क्योकि कल्पना के आश्रित तो सभी अलकार है, इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि (नाद) के आश्रित नहीं है।

स्वभावत ही मनोविज्ञान के प्रकाश मे साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।—अस्तु !

अलकार की मूल प्रेरणा क्या है; अर्थात् हमारी वाणी किस कारण अलंकृत हो जाती है ? इस प्रश्न का उतर स्पष्ट है—भावोद्दीपन से। जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी, तो हमारी वाणी भी आप-से-आप उद्दीप्त हो जायगी। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग, और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार से भी हल किया जा सकता है। हमारे अलकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन और प्रदर्शन मे अतिशय का तत्त्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार अलंकृत वाणी (स्पष्ट शब्दो मे), अलंकार, का मूल रूप अतिशयोक्ति ठहरती है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। वास्तव मे जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है भामह ने वक्रता की और दण्डी ने अतिशय की बहुत-कुछ एक-से ही शब्दो मे परिभाषा की है। दोनों का तात्पर्य लोकाक्रान्तगोचरता से ही है; इसलिए अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार-सर्वस्व माना जा सकता है।

यह तो मूल प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलकारो के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त्त आधार निर्धारित कर सकते है। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाया जाय कि हम अलकार का प्रयोग किसलिए करते है तो व्यवहार-तल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है: उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। ऐसा करने के लिए हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन मे अच्छी तरह बैठाते है; बात को बढ़ा-चढाकर उसके

मन का विस्तार करते है, वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन करके उसमे आश्चर्य की उद्भावना करते है, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा करके उसकी वृत्तियों को अन्वित करते है वात को घुमा-फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते है, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन मे कौतूहल उत्पन्न करते हैं। अलकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार है, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप है—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त, और अर्थान्तरन्यास-जैसे अलकार साधर्म्य-मूलक है; अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदो से लेकर सार, उदात्त, जैसे अलकार अतिशयमूलक, विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप-जैसे अलंकार वैषम्यमूलक, यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति जैसे अलकार औचित्यमूलक है; पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकार वक्रतामूलक है, और श्लेप यमक से लेकर मुद्रा और चित्र-जैसे अलकार चमत्कार मूलक हैं। उपर्युक्त विभाजन मे अतिशय; वक्रता और चमत्कार ये तीन ऐसे आधार है जो वास्तव मे अपने व्यापक रूप मे समस्त अलकारो के मूलवर्ती है। परन्तु यहाँ इनका प्रयोग सकीर्ण और विशिष्ट अर्थ मे किया है—अतिशय का लम्बी-चौड़ी वात करने के अर्थ मे, वक्रता का वात को घुमा-फिरा कर कहने के अर्थ मे और चमत्कार का बुद्धि-कौतुक के अर्थ मे।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र—यूरोप मे काव्य के अन्य अगो की भाँति अलकार-शास्त्र का जन्म भी यूनान में ही हुआ। यूनानी भाषा मे जिस 'र्‌हैटरिक' शव्द का प्रयोग होता है उसका वास्तविक अर्थ है भाषण अथवा वक्तृत्व-कला और आरम्भ मे इसका उपयोग इसी अर्थ मे होता भी था। श्रोता को प्रभावित अथवा अपने मत मे करने के लिए जिन विधियो का उपयोग किया जाता था वे सभी अलकार कहलाती थी। अरस्तू ने इसे भाषा-शास्त्र की अपेक्षा तर्क-शास्त्र से अधिक सम्वद्ध माना है। धीरे-धीरे अलकार का क्षेत्र विस्तृत हो गया, और मौखिक भाषण से लिखित भाषा पर भी उसका अधिकार हो गया।

यूरोपीय अलंकार तीन वर्गों मे विभक्त है. १—शब्द-विन्यास-सम्वन्धी, २—वाक्य-विन्यास-सम्वन्धी, ३—अर्थ-विन्यास-सम्वन्धी। इनमे शव्द-विन्यास-सम्वन्धी अलकारो को सस्कृत के आचार्यो ने व्याकरण के ही अन्तर्गत माना है—व्याकरण मे ही उपसर्ग-प्रत्यय, वर्ण-विपर्यय आदि का विवेचन मिलता है। वाक्य-रचना-सम्वन्धी कुछ-एक, और अर्थ-सौष्ठव-सम्वन्धी अनेक अलंकार सस्कृत अलकारो के समानान्तर हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अलकार केवल शैली के वाह्य उपकरण नही है—उनका आधार मानव-मनोविज्ञान है, इसलिए यूनानी, अरवी, सस्कृत सभी भाषाओं

के प्रधान अलंकार समान है। साधर्म्यमूलक अलकारो मे अग्रेजी के-सिमिली, मैटाफर, हमारे उपमा और रूपक के पर्याय ही है—फेविल, पैरेविल, और एलीगरी वास्तव मे शुद्ध अलंकार-नही है फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपातर माना जा सकता है। वैपम्यमूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशयमूलक अलकारो के अन्तर्गत हायपरवोल और अतिशयोक्ति मे, तथा सार और क्लाइमैक्स मे कोई अन्तर नही है, वक्रता पर आश्रित यूफेमिज्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुएन्डो गूढोक्ति से भिन्न नही है, आयरनी काकु का पर्याय है, और चमत्कारप्राण अलंकारो मे पन, श्लेप और यमक का समकक्ष है। वाक्य-विन्यास वास्तव मे भापा की रचना का वाह्य उपादान है, अतएव उससे सम्वद्ध अलकारो मे साम्य साधारणत सभव नही है, फिर भी ज्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।

भारतीय और यूरोपीय अलकार-शास्त्र मे मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ शव्द-शक्तियो का अलकार से पृथक् विवेचन मिलता है। वहाँ अलकार मे ही लक्षणा और व्यंजना को अन्तर्भूत कर लिया गया है। वैसे तो सस्कृत के भी अनेक अलकारो मे लक्षणा का आधार है रूपक, परिकराकुर और समासोक्ति मे तो स्पष्ट रूप से लक्षणा का चमत्कार हैं फिर भी भापा के ऐसे कई लाक्षणिक प्रयोग है जिन्हे अंग्रेजी मे स्वतन्त्र अलकार माना गया है। परन्तु सस्कृत मे वे केवल शव्द-शक्ति के रूप ही माने गए है, जैसे—मैटोनिमी, जिसमे लिगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार, कर्ता के लिए कारण का प्रयोग होता है, सिनक्डकी, जिसमे व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अंग के लिए अगी, अगी के लिए अग, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रयुक्त होता है,...हाइपैलेज, जिसमे विशेषण का विपर्यय हो जाता है, या परसोनीफिकेशन, जिसमे जड वस्तुओ का अथवा गुणो का मानवीकरण कर दिया जाता है। वास्तव मे ये चारो न केवल स्वतन्त्र अलकार के गौरव के ही अधिकारी है वरन् इन्हे प्रधान अलकार स्वीकार करने मे भी आपत्ति नही होनी चाहिए। सस्कृत मे जहाँ अनेक साधारण चमत्कारमूलक अलकारो की वाल की खाल निकाली गई है, वहाँ लक्षणा-मूलक इन महत्वपूर्ण अलकारो का अभाव आश्चर्य की ही वात है। इसी प्रकार विदेश मे व्यग्य को अलकार माना है, परन्तु हमारे यहाँ उसे भी शव्द-शक्ति का धर्म माना है यद्यपि हमारे पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा आदि सभी व्यजना के ही आश्रित है, शव्दो की खीचा-तानी से उनको अन्यथा प्रमाणित नही किया जा सकता।

कुल मिलाकर अग्रेज़ी के अलकारो की सख्या—वाक्य और शव्द-विन्यास से सम्वद्ध अलकारो को मिलाकर भी—सस्कृत की अपेक्षा वहुत कम है। इसके अतिरि— इनमें सभी अलंकार वास्तव मे शुद्ध नही कहे जा सकते। शव्द और वाक्य-

विन्यास के आश्रित अलकार तो अधिकाशत व्याकरण के प्रयोग है ही, अर्थ-विन्यास मे सम्बद्ध ऐपीग्राम, फेविल आदि भी स्वतन्त्र अलंकार नही है। वास्तव मे यूरोप मे अलकार-शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नही हुआ जितना कि हमारे यहाँ, और वैसे प्रकृति से भी वर्ग-विभाजन मे भारतीय आचार्यो को पराजित करना विदेश के पडितो के लिए सभव नही था। जैसा कि आज से बहुत पूर्व युग-चेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—'भारती को कुछ नवीन आभूषणो से अलकृत करने मे हमे सकोच नही करना चाहिए। फिर क्या कारण कि वेचारी भारती के जेवर वही भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के ज़माने के ज्यो-के-त्यो बने हुए है ? भारती को क्या नवीनता पसन्द नही ! न हो तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नए आभूपणो की खोज या कल्पना करने की कृपा करे। ये पुराने भूपण भाषण के भिन्न-भिन्न ढग है। क्या इनके सिवा वोलने और लिखने, सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढग हो नही सकता।'[1]

अलकारो की वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उनके परिशोधन का। सस्कृत के अलकारो मे भ्रातियाँ काफी है—वाणी, न्याय, वस्तु और भाव पर आश्रित अलंकार वास्तव मे शुद्ध अलकार नही है। इसी प्रकार वाल की खाल निकालकर अलकारो मे जो सूक्ष्म अवोतर भेद किए गए है उनका समीकरण करना भी श्रेयस्कर होगा। अलकार भापण की विधियाँ है—अतएव उनके मूल मे निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती है। उन्ही के प्रकाश मे आज अपने अलंकारो की सम्यक् व्याख्या और उसके साथ ही यथास्थान थोडा-वहुत परिवर्तन और परिशोधन करके हम भारती के इस समृद्ध अग का उचित उपयोग कर सकते है।

रसानुभूति से अलंकार का योग—अव एक प्रश्न शेष रह जाता है 'रसानुभूति मे अलकार किस प्रकार योग देता है ?' रस मन की वह अवस्था है जिसमे हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती है। अतएव रसानुभूति मे अलकार का क्या योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमे यह देखना चाहिए कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियो को अन्वित करने मे सहायक होता है। वैसे तो सभी अलकारो का मूलाधार अतिशय है, जो हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त करता हुआ वाद मे उन्हे पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है। परन्तु जैसा मैने अन्यत्र कहा है व्यवहार-तल पर भी अलकारो के छह स्पष्ट आधार है जो अतिशयगर्भ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न और अपने मे स्वतन्त्र है—साधर्म्य अतिशय, वैपम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। साधर्म्यमूलक अलकार द्वारा मुख्यत हम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए श्रोता की मनोवृत्तियो को

---

१ 'भारती भूषण' ४ प्रस्तावना मे उद्धृत प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र।

अन्वित करते हैं—उदाहरण के लिए यदि हम किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते है तो, वास्तव मे, मुख को देखकर हमारे मन मे जो विशिष्ट भाव उठता है उसका हम एक प्रसिद्ध उपमान की सहायता लेकर साधारणीकरण करते है। चन्द्रमा एक प्रसिद्ध सौंदर्य-प्रतीक है। उसके दर्शन से मन मे कैसा भाव उत्पन्न होता है, इसे हमारे अतिरिक्त अन्य सहृदय व्यक्ति भी पूरी तरह जानते है। अतएव हम किसी सुन्दर मुख को चन्द्रमा के समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावना को श्रोताओ के हृदय मे बैठाते है। इस प्रकार हमारी उक्ति के प्रभाव को पूर्णत ग्रहण करके श्रोता की वृत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। साधर्म्यमूलक अलकार मूलत इसी तरह सहानुभूति मे योग देते है। उनमे स्पष्ट रूप से लोकातिशयता तो होती ही है, परन्तु आत्यन्तिक रूप मे सगति भी अनिवार्यत होती है (जहाँ लोकातिशयता असगत अथवा अप्राकृतिक होगी वहाँ अलकार सार्थक नही होगा)। अतएव वे अतिशयता के द्वारा पहले मन का विस्तार करते हुए हमारी वृत्तियो को ऊर्जस्वित करते है फिर मूलवर्ती सगति के द्वारा उनमे अन्विति स्थापित करने मे सहायक होते है। एक उदाहरण लीजिये :

राघव की चतुरंग चमूचय को गनै 'केशव' राज समाजनि,
सूर तुरंगन के अरुझैं पग तुंग पताकनि की यह साजनि ॥

राम की सेना के वैभव का कवि के मन पर इतना अधिक प्रभाव पडा कि उसके मन का ओज एक साथ वाणी मे फूट पडा। 'तुंग-पताकाओ मे सूर्य-तुरगो के पैर उलझ जाते है,' इस उक्ति मे पताकाओ की ऊँचाई की अतिशयता तो स्पष्ट है ही परन्तु उसके आगे उसकी ऊँचाई मे मूलवर्तिनी भावना की सगति भी है। इसलिए हम जब इस ऊर्जस्वित वाणी को सुनते है तो प्रतिसंवेदन के द्वारा पहले तो हमारे मन मे ओज का संचार हो जाता है, जिससे हमारी वृत्तियाँ विस्तृत हो जाती है, फिर मूलवर्तिनी सगति के सहारे वे अन्विति के लिए तैयार हो जाती है। विस्तार के उपरात यह अन्विति स्वभावत ही अधिक गहरी होती है। वैषम्यमूलक अलकारो की रसानुभूति मे योग देने की विधि साधर्म्यमूलक अलकारो के बिल्कुल विपरीत है। ये वैषम्य के द्वारा—शब्दगत अथवा अर्थगत निषेध के द्वारा—आश्चर्य-चकित करके वैषम्य मे अनुस्यूत साम्य की अर्थात् अनेकता मे एकता की भावना, कराते हुए हमारी वृत्तियो को अन्वित करने मे सहायक होते है।

मीठी लगै अँखियान लुनाई।

उपर्युक्त उक्ति मे लुनाई के मीठे लगने मे शब्दगत वैषम्य अथवा निषेध है। यही वैषम्य पहले तो एक साथ मन मे आश्चर्य पैदा करके हमारी वृत्तियो को विशृंखल कर देता है, परन्तु बाह्य वैषम्य होते हुए भी दोनो मे जो आन्तरिक

सगति है वह अन्त मे जाकर उद्दीप्त वृत्तियों को अधिक पूर्णता के साथ अन्वित करने मे सहायक होती है।

चौथा वर्ग है औचित्यमूलक अलकारो का—औचित्यमूलक अलंकारो मे तो मूलत: ही एक संगति वर्तमान रहती है जो हमारी वृत्तियो को सीधे रूप मे ही समन्वित होने मे सहायता देती है।

'भागीरथी बिगडी गति मैं, अरु तू बिगडी गति की है सुधारक।' यहाँ भक्त 'बिगडी गति' और भागीरथी 'बिगडी गति की सुधारक' है। इन दो तत्वो मे सगति स्पष्ट है जो हमारी भावनाओ मे सामजस्य स्थापित करने मे सहायता देती है। इसी प्रकार माला तथा एकावली भावनाओ को शृ खलित करके और काव्यलिग आदि भावगत औचित्य स्थापित करके उक्त उद्देश्य की सिद्धि मे योग देते है।

वक्रतामूलक अलकार कार्य-जिज्ञासा को उभारकर पूरा करते है। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलकार गोपन की सहायता से हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते है। वे हमारी वृत्तियो की गति को थोडा रोककर उन्हे तीव्रतर बना देते है और फिर वास्तविक अर्थ की सगति द्वारा उनकी अन्विति मे सहयोग देते है। उदाहरण के लिए एक प्रसिद्ध पर्यायोक्ति लीजिये—'न स सकुचितः पथा येन बाली हतो गत.'—'जिस मार्ग से बाली यमपुर गया था वह मार्ग सकुचित नही हुआ है।' ऐसा कहकर वाल्मीकि यह ध्वनित करना चाहते है कि सुग्रीव यदि प्रमाद करता है तो उसको भी बाली पथ का पथी बनना पडेगा। यहाँ वास्तविक अर्थ के गोपन द्वारा हमारी जिज्ञासा उद्दीप्त की गई है। अब रह जाते हैं चमत्कारमूलक अलकार—इनका चूँकि बुद्धि के व्यायाम से सम्बन्ध अधिक है और नियोजन भी मुख्यतः मस्तिष्क की क्रियाओ के ही आश्रित है अतएव रसानुभूति मे इनका योग अत्यन्त न्यून और अप्रत्यक्ष होता है फिर भी बुद्धि और भावना मे कोई निश्चित विभाजक रेखा न होने से एक की क्रिया दूसरे को प्रभावित करती ही है। इसी प्रक्रिया से ये अलकार भी हमारे मन मे कौतूहल उत्पन्न करके हमारी वृत्तियो को अधिक जागरूक बना देते है और इस प्रकार अपने ढग से रसानुभूति मे योग देते है

'सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ।'[1]

यहाँ सलोना पद श्लिष्ट है—उसके दो अर्थ है लावण्ययुक्त और नमकीन। प्रयोग का यह द्व्यर्थक चमत्कार तो सीधा मन मे कौतूहल उत्पन्न करके रस मे सहायक हो जाता है। परन्तु प्रायः चमत्कारमूलक अलकारो मे बुद्धि की क्रीडा और अधिक होती है। जैसे :

---

१. बिहारी-सतसई

ललन सलोने अरु रहे, अति सनेह सो पागि ।
तनक कचाई दत दुख सूरन लौ मुँह लागि ॥[1]

इस दोहे मे सूरन की उपमा नायक के साथ दी गई—और सलोने, सनेह, कचाई, मुँह लागि आदि श्लिष्ट पदो द्वारा उसका निर्वाह किया गया है। "सूरन कच्चा रहने पर मुँह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते हैं, और उसे खूब तेल देकर भूँजते हे, फिर भी भूँजने मे वह कच्चा रह गया तो मुँह मे लग ही जाता है।" इस दोहे का सौंदर्य श्लेष के ही आश्रित है--और वास्तव मे अलकार-निर्वाह भी वहुत खूबसूरती के विना किसी खीच-तान के हुआ है, लेकिन फिर भी चूँकि सूरन और नायक मे भावना की अन्विति न होकर केवल बुद्धि की ही अन्विति है, इसलिए रस तक पहुँचने मे देर लगती है—और इसीलिए इसका योग दूरारूढ ही मानना पडेगा। साराश यह हे कि अलकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी-न-किसी प्रकार हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त करके उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते है। ये उद्दीप्त वृत्तियाँ जब अन्वित होती है तब स्वभावतः ही इनकी अन्विति मे अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति मे भी तीव्रता एव गहराई आ जाती हे। इसी रूप मे अलकार रसानुभूति मे योग देते हैं।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय का सक्षिप्त इतिहास—रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य वामन। उन्होने ही सबसे पूर्व 'रीति' शब्द का प्रयोग किया और उसे काव्य की आत्मा माना—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। परन्तु, इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे वहुत पहले से चली आ रही थी। दडी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ मे 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड दो मार्गों का निर्देश किया है। भामह ने भी वैदर्भ और गौड काव्यो के अन्तर का सबल शब्दो मे निर्देश किया है, जिससे स्पष्ट है कि उनके समय मे भी किसी-न-किसी रूप मे रीति का अस्तित्व था। उधर सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे बाणभट्ट ने भी लिखा है, 'गौड़ लोग अपने शब्दाडवर के लिए कुख्यात थे।' इसके अतिरिक्त गुणो का विवेचन तो (जिनको कि दडी और वामन दोनो ने रीति का मूल तत्त्व माना है) अत्यन्त प्राचीन है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' मे दस गुणो की सम्यक् व्याख्या की गई है। अतएव यही सिद्ध होता है कि रस और अलकार की भाँति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी, जिसको वामन ने एक निश्चित रूप-रेखा मे बाँध दिया।

१ बिहारी सतसई

यदि भरत से ही आरम्भ करे, तो हम देखते है कि उन्होने रीति की ओर तो कही भी सकेत नही किया, परन्तु गुणो का पर्याप्त विवेचन किया है। उन्होने गुणो का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर, उन्हे दोपभाव माना है और इस प्रकार दस दोषो के अभाव रूप गुणो को भी सख्या मे दस माना है :

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद-सौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशेते ।।

—ना० शा० १६।६७

भरत का गुण-विवेचन यद्यपि स्थान-स्थान पर अस्पष्ट और सदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओ को दण्डी और वामन ने ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होने शब्द और अर्थवत् गुणो का पृथक् निरूपण नही किया लेकिन उन्हे इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरात भामह ने भी रीति को कोई महत्व नही दिया। उन्होने वक्रोक्ति को काव्य का मूल तत्व मानते हुए वैदर्भ और गौड काव्यो के भेद को अनर्गल घोषित किया। भामह मे रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग मिलता है. "वक्रोक्तिहीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नही है; और उससे परिपुष्ट गौड काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है"। गुणों की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है। उन्होने उनकी सख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य, ओज और प्रसाद। बाद मे ध्वनिवादियो ने भामह के तीन गुणो को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलकारवादी थे, परन्तु उन्होने गुणो को अलंकारो से अधिक महत्व दिया है। वास्तव मे उन्होने गुणो और अलकारो मे स्पष्ट भेद नही किया है। गुण और अलकार दोनो ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म है—गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते है, अलकार सत् और असत् दोनो प्रकार के काव्यो मे मिल सकते है। वैदर्भ काव्य, जिसमे समस्त गुणो का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौड़ काव्य इसके विपरीत है, उसमे गुणो का विपर्यय मिलता है:

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृताः ।
एषां विपर्यय. प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ।।

—काव्यादर्श १।४२

दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन शब्द का प्रयोग किया है —उन्होने मार्गो की सख्या दो और गुणो की दस मानी है। गुणो की गणना और नामकरण मे भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या मे दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कातिगुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न है। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और अर्थगत गुणों का पार्थक्य

नही किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता, ओजस् शब्द के आश्रित है, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कांति, उदारता और समाधि अर्थ के। माधुर्य मे दोनो का आधार है। दोषो का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होने भी भामह के ग्यारहवे दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषो की संख्या दस स्वीकार की है। इतना होते हुए भी दण्डी के विवेचन मे अपने दोष है। उदाहरणार्थ अर्थव्यक्ति प्रसाद के अतर्गत आ सकता है, उदारत्व और कांति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट है, उनमे जिस भावगत सौन्दर्य की ओर संकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरांत वामन ने रीति और गुणो का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप मे प्रतिष्ठा कर दी। उन्होने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियो की सत्ता स्वीकार की: वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली। वैदर्भी मे दसो गुणो का समावेश रहता है, गौड़ी मे ओज और कांति का, पाचाली मे माधुर्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणो को शब्द-गुण और अर्थ-गुण दो भागो मे विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार मे स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है। उदाहरण के लिए वामन का ओजस् दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ-गुण कांति मे रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्त्वों मे परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारो मे ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अंग नही माना।

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने हैं परन्तु भरत की भांति उन्होने गुणो को दोषाभाव न मानकर दोषो को गुणो का विपर्यय माना है, और उनका पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष, और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदो मे विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमाएँ भी है—उनकी कतिपय परिभाषाएँ अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणो को शब्द-गुण और अर्थ-गुण मे विभक्त करना ही अधिक संगत नही है, स्थान-स्थान पर इसके लिए उन्हे खींच-तान करनी पड़ी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट है—जैसे उनका शब्द-गुण प्रसाद केवल ओजस् का निषेध-मात्र है और उदारता ग्राम्यत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतन्त्र गुण ही नहीं माना, क्योंकि वह ओजस् का केवल एक भेद-मात्र है। उनके कई गुण तो केवल अलंकार ही रह गए है। इस प्रकार वामन के विवेचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यों ने अनेक आक्षेप किए है। परन्तु इन साधारण आक्षेपो के होते हुए भी संस्कृत अलकार-शास्त्र मे वामन का गौरव कम नही होता। काव्य के बाह्य रूप की महत्ता को असंदिग्ध

शब्दो मे स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य का अपना पृथक् स्थान रहेगा। काव्य-शोभा अथवा सौन्दर्य का वस्तुगत विवेचन उनका सर्वथा पूर्ण है।

वामन के उपरान्त रुद्रट ने एक चौथी रीति—लाटी—का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदो का प्रयोग विशेष ही है। आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है, अतएव स्वभाव से ही उन्होने रीति को स्वतन्त्र महत्त्व नही दिया। आनन्दवर्द्धन ने उसे काव्य के वाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है। उनका महत्त्व इसी पर निर्भर है कि वे रस-परिपाक मे कहाँ तक योग देती है। अभिनव एक पग और आगे बढ गए है, उन्होने गुण और अलकार से पृथक् रीति का अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नही समझी। हाँ, गुणो को ध्वनिवादियो ने वाछित महत्त्व दिया है, उनको रस का तत्त्व मानते हुए काव्य का नित्य अग माना है। गुणो की सख्या उन्होने दस से घटाकर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है—माधुर्य, ओज और प्रसाद, जो क्रमश चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित है। कुतक ने भी रीतिविभाजन का तीव्र शब्दो मे विरोध किया। उन्होने कहा—देश के अनुसार काव्य-रीति का विभाजन असगत है। इस प्रकार तो असंख्य रीतियाँ माननी पड़ेगी, और न रीतियो को उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है, क्योकि काव्य तो कवि-प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह सबसे उत्तम होगी—उसमे उत्तम, मध्यम और अधम के लिए स्थान नही है। रीति के स्थान पर कुतक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि-प्रस्थान-हेतु अर्थात् कवि-कर्म का ढग माना है। मार्गों को उन्होने देश-भेद के अनुसार विभाजित न करके रचना-गुण के अनुसार दो भेदो मे विभाजित किया है: सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणो की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होने दोनो मार्गों के तत्त्व-रूप चार गुण माने है—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। यो तो चारो गुण दोनो ही मार्गों के मूल तत्त्व है परन्तु उनका स्वरूप दोनो मे भिन्न है। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण है जो सभी प्रकार के काव्यो मे वर्तमान होने चाहिए। कुतक ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होने वाह्य उपादानो को अधिक महत्त्व नही दिया, स्वभावत उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुतक के उपरांत भोज ने मागधी और अवतिका दो नवीन रीतियो की उद्भावना करते हुए उनकी सख्या छह तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत कुछ

समस्त पदो के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होने वैदर्भी और पाचाली की मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड-रीति की सज्ञा दी है, उसमे सगीत का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणो और दोषो के विवेचन मे भी उन्होने नवीन उद्भावनाएँ की है, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नही है, उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नही मिलती। उदाहरण के लिए उनकी रीति-विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक है।

भोज के परवर्ती आचार्यो ने मौलिक सिद्धान्तो की कोई विशेष सृष्टि नही की, वे प्राय. व्याख्याता ही थे। इनमे सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियो को उद्भट की वृत्तियो से एकरूप कर दिया है: वैदर्भी और उपनागरिका एक है, परुषा और गौडी एक है, पाचाली और कोमला एक है। इनमे पहली दोनो माधुर्य-व्यजक वर्णो के आश्रित है, दूसरी ओज-व्यजक वर्णो के, तीसरी मे ऐसे वर्णो का प्रयोग होता है जो इन दोनो से भिन्न है। मम्मट का विवेचन बहुत कुछ आनन्दवर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्ही के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणो की संख्या केवल तीन ही मानी है—और वामन-कृत दस शब्द-गुणो और दस अर्थ-गुणो की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणो को या तो इन तीनो मे ही अन्तर्भूत कर दिया है, या फिर दोषाभाव कहकर स्वतन्त्र अस्तित्व का अधिकार नही दिया है। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति को अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्यों मे केवल विश्वनाथ ने ही रीति का रस और गुण के सम्बन्ध से व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होने रुद्रट के अनुसार चार रीतियाँ मानी है और उनका आधार समस्त-पद-प्रयोगो को न मानकर स्पष्ट रूप से वर्णो के सगुम्फन को ही माना है। वैदर्भी, जो माधुर्य से सम्बद्ध है, शृगार, करुणा और शात के उपयुक्त है, और गौडी, जिसका सम्बन्ध ओज से है वीर, वीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पडती है। पांचाली की परिभाषा उन्होने बहुत कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नही हो सकी। उनकी लाटिका रीति मे भी वैदर्भी और पाचाली की ही विशेषताएँ है, अतएव उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानना व्यर्थ है। सस्कृत साहित्य-शास्त्र के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के वाह्य रूप को एक वार फिर गौरव के साथ आगे लाने का प्रयत्न किया, और गुण आदि का विस्तृत विवेचन भी किया। परन्तु कुल मिलाकर वे भी इस क्षेत्र मे आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र उद्भावना नही कर सके। रीति की परम्परा, जो कि सस्कृत मे भी अधिक लोकप्रिय नही हो पाई थी, अन्त मे स्वभावत. ही उसी के साथ नि.शेष हो गई। हिन्दी के आचार्यों ने उसे कोई महत्त्व नही दिया।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति के उद्भावक वामन ने रीति को विशिष्ट पद-रचना कहा है—"विशिष्टा पद-रचना रीति", और पद-रचना के वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणो के सश्लेषण पर आश्रित माना है : 'विशेषो गुणात्मा'। गुण का अर्थ उन्ही के शब्दो मे है—काव्य को शोभित करने वाले धर्म। गुण नित्य धर्म है अलकार अनित्य, क्योकि केवल गुण तो वैशिष्ट्य की सृष्टि कर सकते है, केवल अलकार नही। काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर आश्रित है। यह सौन्दर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है ? दोषो के बहिष्कार एव अलकारो के प्रयोग से। तो, इस प्रकार वामन के अनुसार रीति पद-रचना का वह प्रकार है जो दोषो से मुक्त हो, एव गुणो से अनिवार्यतः तथा अलकारो से साधारणत सम्पन्न हो।

वामन के उपरान्त कुन्तक ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु, अर्थात् कवि-कर्म की विधि कहा है, और भोज ने भी उसका अर्थ काव्य-मार्ग किया है। आनन्द-वर्द्धन ने अपने आशय को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए उसको वाक्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है—उनके अनुसार रीति वह विधि है, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द-अर्थ मे चारुता आती है। आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोडकर उसके बाह्य रूप तक ही सीमित रखा है जो वास्तव मे उचित है; क्योकि काव्य केवल पद-रचना के ही आश्रित नही है। बाद मे मम्मट और विश्वनाथ ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए रीति-विवेचन को सर्वथा निर्भ्रान्त बना दिया है. 'पद संघटना रीतिरंग सस्थानवत्'। इस प्रकार आप देखे कि साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ रीति के गौरव मे तो आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है—वह आत्मा से अग-मात्र रह गई है, परन्तु उसकी परिभाषा आदि से अन्त तक लगभग वही रही है।

बहुत-कुछ अग्रेजी के अठारहवी शती के कवियो की भांति रीतिवादियो का भी दृष्टिकोण वस्तुगत था। उन्ही की तरह ये भी काव्य-सौदर्य को भाव से आश्रित न मानकर भाषा के ही आश्रित मानते थे। वामन का यह विश्वास था कि समस्त पदो के कुशल प्रयोग, एव शब्दो तथा वर्णों के चारु चयन के द्वारा अथवा भावो का क्रम बाँधने या उनको सजाकर रखने से ही प्रायः काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अतएव वे उन्ही को आधार मानकर काव्य के बाह्य रूप का वस्तुगत विश्लेषण करते रहे। परन्तु काव्य के भाव-पक्ष अथवा आन्तरिक पक्ष से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, यह नही कहा जा सकता। उन्होने अर्थ-गुण कान्ति मे रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है। इसी प्रकार उनके अर्थ-गुण सौकुमार्य और उदारता भी भाव-सौन्दर्य से ही अधिक सम्बन्ध रखते है। इसके अतिरिक्त अर्थ-गुणो को शब्द-गुणो के बराबर ही महत्त्व देना

भी तो इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस प्रकार वामन की रीति में आन्तरिक तत्त्व का सर्वथा अभाव मानना तो भ्रामक है क्योकि उन्होने अर्थ और वाणी के सामंजस्य को पूर्णत. स्वीकार किया है; पर हाँ, वैयक्तिक तत्त्व को उसमे कदाचित् उतनी प्रधानता नही दी गई जितनी कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की 'शैली' मे दी गई है। भारतीय काव्य-शास्त्र की रीति का सम्वन्ध कला से जितना घनिष्ठ है उतना कवि-व्यक्तित्व से नही। परन्तु फिर भी डॉक्टर डे आदि की यह प्रस्थापना पूर्णत· सत्य नही है कि भारतीय रीति सर्वथा निर्वैयक्तिक रचना-कौशल है, अतएव वह पाश्चात्य शैली से एकान्त भिन्न है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे अनेक स्थानो पर रीति और कवि-व्यक्तित्व के अतरंग सम्वन्ध का निर्देश किया गया है। उदाहरण के लिए दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि वैदर्भ और गौडीय मार्ग तो काव्य के दो स्थूल भेद-मात्र है। वैसे तो कवियों ने अपने-अपने व्यक्तित्वो के अनुसार वाणी के अनेक सूक्ष्म भेद है जिनका वर्णन सम्भव नही है :

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ काव्यादर्श ४०,१

× × ×

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूप-निरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥ वही १,१०१

उनके उपरात शारदातनय आदि ने भी इसका समर्थन किया—'पुंसि-पुंसि विशेपेण कापि-कापि सरस्वती' और उधर अनेक कवियो ने इस वात पर वल दिया है कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होनी अनिवार्य है।

उधर पश्चिम में भी शैली का वस्तु-विवेचन काफी हुआ है। सवसे पूर्व तो आचार्य अरस्तू ने ही शैली के वाह्य रूप का व्यापक विवेचन करते हुए उसके दो भेद किये है . वाद-शैली और साहित्य-शैली[1]। उन्होने शैली के दो मूल गुण माने हैं; (अ) पर्सपिक्विटी (आ) प्रोप्राइटी। पर्सपिक्विटी का अर्थ है प्रसाद और प्रोप्राइटी का औचित्य। ये दोनो ही गुण भारतीय काव्य-शास्त्र मे स्वीकृत है। प्रसाद तो पृथक् गुण ही है, औचित्य का कुतक के अतिरिक्त किसी ने पृथक् निर्देश नही किया, किन्तु नाम-भेद से उ । वामन आदि सभी ने स्वीकार किया है। तथापि औचित्य वास्तव मे विशेप गुण न होकर काव्य का सामान्य गुण ही है, क्योकि इसके अभाव मे काव्य काव्य ही नहीं रह जाता और इस दृप्टि से कुतक का मत ही अधिक मान्य है जिन्होने कि

1. Controversial and literary

इसे रीति का सामान्य अनिवार्य गुण ही माना है। अरस्तू के उपरान्त शैली पर डिमेट्रियस का 'औन स्टाइल' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है। डिमेट्रियस ने शैला के चार भेद किए हैं: ऐलीगेण्ट (सुन्दर), प्लेन (प्रसादयुक्त), फोर्सिबिल (ओजस्वी), और ऐलिवेटिड (उदात्त)। इनमे प्रथम तीन तो भारतीय काव्य-शास्त्र की क्रमशः माधुर्य, प्रसाद और ओजयुक्त शैलियो से अभिन्न ही है, ऐलिवेटेड (उदात्त) थोडी भिन्न है—परन्तु उसका कारण यह है कि विदेश मे सब्लाइम का आरम्भ से ही पृथक् विवेचन है जब कि हमारे यहाँ उसे ओज मे भी अन्तर्भूत कर लिया गया है।

यूनानी आचार्यों के उपरात रोम के और उनके उपरात फ्रास, इगलैड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियो ने शली के वस्तु-रूप का सम्यक् विवेचन किया है। इन आलकारिको के विवेचन के सार-रूप पश्चिम मे शैली के तीन पक्ष माने गये है—बुद्धि-पक्ष, राग-पक्ष और कला-पक्ष। बुद्धि-पक्ष के अन्तर्गत आते है (अ) यथातथ्यता अर्थात् उचित शब्द का उचित प्रयोग, (आ) स्पष्टता अर्थात् इन उचित शब्दो को वाक्य-संगठन में उचित स्थान पर क्रमपूर्वक रखना, (इ) औचित्य अर्थात् वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का सामजस्य—संगति, अन्विति इत्यादि। राग-पक्ष से आशय ओज, तीव्रता, ध्वन्यात्मकता अथवा उन तत्त्वो से है जिनके द्वारा कवि न केवल अपने विचारों को ही, वरन् अपने भावो और उद्वेगो को भी पाठक तक प्रेषित करता हुआ उसके हृदय मे भी सदृश भावो और उद्वेगो का सचार करने मे समर्थ होता है। तीसरा है कला-पक्ष, जिसके अन्तर्गत संगीत, गति, लय, नाद-सौंदर्य आदि की गणना है जो अर्थ से स्वतन्त्र होकर भी मन को आह्लादित करते है।

आप देखे कि उपर्युक्त तत्त्व-विश्लेषण वामन आदि के तत्त्व-विश्लेषण से वहुत भिन्न नही है। वामन के श्लेष (जिसमे शब्द और अर्थ की पूर्ण मैत्री के द्वारा अभिव्यक्ति मे यथातथ्यता रहती है), प्रसाद—(जिसमे सरल प्रचलित शब्दों के निर्भ्रान्त प्रयोग द्वारा आशय की स्पष्टता रहती हे), समाधि—(जिसमे अर्थ की एकाग्रता होती है), समता—(जिसमे संगति होती है) आदि बुद्धि-पक्ष के तत्त्व है। सौकुमार्य—(जिसमें अप्रिय तथ्य भी प्रिय शब्दो मे कहा जाता है), उदारता—(जिसमे भाव-भगिमा मे अग्राम्यत्व रहता है), काति—(जो रस से दीप्त होता है) आदि अर्थ-गुण राग-पक्ष के तत्त्व है। इसी प्रकार कतिपय शब्द-गुण जैसे ओज—(जिसमे पदो का गाढ-बन्धत्व रहता-हे), माधुर्य—(जिसमे पद पृथक् और श्रुति-मधुर होते है), सौकुमार्य—(जो परुष वर्णों से मुक्त होता है), उदारता—(जिसमे पद नृत्य-सा करते है) और काति—(जिसमे पद-औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है) कला-पक्ष के तत्त्व है। इसमे सन्देह नही कि यह विवेचन सर्वथा पूर्ण नही है, परन्तु जहाँ कही भी जीवन के तत्त्वो का बाह्य तथ्यो के वर्गीकरण द्वारा विवेचन किया जाएगा, वहाँ पूर्णता की आशा करना

व्यर्थ होगा। रीति या शैली अपने वास्तविक रूप मे मनोविकारो की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित वाह्य तथ्यो मे बाँधना उतना ही कठिन है जितना मनोविकारो को, इस क्षेत्र मे तो विवेचन की एक दिशा का ही निर्देश किया जा सकता है—इस दृष्टि से वामन की सफलता पश्चिमी आचार्यो की अपेक्षा अधिक स्तुत्य है।

अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्त्व। वैयक्तिक तत्त्व के दो रूप है। एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना, दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। पहला रूप, जैसा मैंने अभी कहा है, भारतीय रीति-परिभाषा से सर्वथा बहिष्कृत नही है, यद्यपि उसे वाछित महत्त्व नही मिला, और इसका स्पष्ट कारण यही है कि भारत मे साहित्य को निर्वैयक्तिक साधना के रूप मे ही प्राय ग्रहण किया गया है। दूसरे रूप का विधान तो निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नही किया परन्तु वामन से पूर्व भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है कि नाटक मे भाषा पात्र के शील-स्वभाव की ही अनुवर्तिनी होनी चाहिए। वामन के उपरान्त मम्मट ने भी वक्ता और विषय के अनुसार रीति मे परिवर्तन करना उचित और आवश्यक माना है।

सारांश यह है कि रीति-सम्प्रदाय ने काव्य के वाह्य पक्ष—रचना-चमत्कार—को विशेष महत्त्व दिया है इसमे सन्देह नही, परन्तु यह भी सत्य है कि उसके मानस-पक्ष की भी उपेक्षा इसमे नही की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को वाछित महत्त्व नही मिला, यद्यपि वहिष्कार उसका भी नही हुआ।

रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध

जहाँ तक वामन की रीति का प्रश्न है, स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना-चमत्कार, जो गुणो पर आश्रित रहता है। गुण, काव्य के वे नित्य-धर्म है जो उसको सुशोभित करते है। दोष गुणो के विपर्यय हैं; अतएव वे काव्य की शोभा मे बाधक होते है। गुणों के प्रयोग और दोषो के बहिष्कार से रचना मे सौंदर्य आता है। रचना का यही सौंदर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी मे निहित रहता है, वह इसका साध्य नही, साधक है।

परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। ध्वनि और रसवादियो ने चित्र बदल दिया। रीति आत्मा न रहकर अंग-सस्थान मात्र रह गई। रस उसका एक तत्त्व नही रहा। वह स्वय रस की उपकर्त्री समझी गई। इसी प्रकार गुण भी उसके उपादान तत्त्व नही रहे। वह स्वयं उनका माध्यम बन गई। इन लोगो के अनुसार रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है; जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस-दशा तक पहुँचाती है।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति—अब एक प्रश्न शेष है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? आनन्दवर्द्धन ने तो केवल यही कहा है कि शृंगार, रौद्र आदि रसो मे, जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य, ओज आदि गुण बसते है, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणो का क्या सबन्ध है, यह उन्होने स्पष्ट नही किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य-सम्बन्ध है। इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शृंगार रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का सचार होता है वही माधुर्य है; वीर रस के अनुभव से उसमे जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है; और सभी रसों के अनुभव से चित्त मे जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओ से सर्वथा अभिन्न है और चूँकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य मे अन्तर होना अनिवार्य है, इसीलिए रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव में भी अन्तर अवश्य मानना होगा—कम-से-कम कालक्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूँकि रस की पूर्ण स्थिति मे दूसरे अनुभव को स्थान नही रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नही रह पाता। वह रस के अनुभव मे ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने गुणो को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरात माधुर्य आदि गुणो को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना और उन्हे चित-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते है। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय मे मम्मट ने कुछ प्रकाश नही डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की अर्थात् चित्त के द्रुति-दीप्तत्व-रूप आह्लाद को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नही है" जैसा कि अभनिव ने किसी अंश तक माना है। "आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय है। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नही है।"[1]

१- 'साहित्यदर्पण'—विमलाटीका (अष्टम परिच्छेद)

इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

वास्तव मे जैसा कि डा० लाहिरी ने कहा है, सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नही है। यदि विश्वनाथ के अनुसार उसे रस से अभिन्न आस्वाद-रूप ही मानते है तो प्रश्न उठता है कि उसकी पृथक् स्थिति क्यो मानी जाय ? इसलिए विश्वनाथ का सिद्धान्त मान्य नही हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखे तो रस और गुण दोनो ही मन.स्थितियाँ है (इस विषय मे अभिनव, मम्मट आदि सभी सहमत है)। रस वह आनन्द रूपी मन.स्थिति है, जिसमे हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती है और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मन.स्थिति है, जिसमे कही चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती है, कही दीप्त और कही परिव्याप्त। यहाँ तक तो कोई कठिनाई नही है। यह भी ठीक है कि विशेष भावो मे और विशेष शब्दो मे भी चित्त-वृत्तियो को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुनकर प्रेम, करुणा आदि भावो को ग्रहण करके हमारे चित्त मे एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते है। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर और रौद्र आदि भावो को ग्रहण करके हमारे चित्त मे दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते है। परन्तु इन विकारो को पूर्णत आह्लाद-रूप नही कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार करके भोजकत्व की ओर बढ रहा है, अभी उसमे वस्तु-तत्त्व नि शेष नही हुआ। और स्पष्ट शब्दो मे हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ रही है, अभी इनमे पूर्ण अन्विति की स्थापना नही हुई, क्योकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह सकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यत आह्लाद-रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया मे रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघलकर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती है।

दोष की स्थिति—दोषो को रस का 'अपकर्षक', 'मुख्यार्थ मे बाधक' आदि कहा गया है। भरत ने उन्हे भावमूलक (Positive) मानते हुए गुणो को अभावमूलक (Negative) माना है। दण्डी ने भी उन्हे भावमूलक ही माना है, परन्तु वामन ने उन्हे गुणो का विपर्यय कहा है। परवर्ती आचार्यो ने भी उनकी भावमूलक स्थिति ही स्वीकार की है, और यह उचित ही है, क्योकि काणत्व आदि दोष की स्थिति भावमूलक ही है। सुनयनत्व आदि गुणों का अभाव दोष-रूप नही है। गुणो का अभाव निर्गुणत्व है,

दोष नही। दोषों की संख्या दस से आरम्भ होकर सत्तर तक पहुँच गई है। उनका विभाजन साधारणतः पाँच वर्गों मे किया जाता है—पद-दोष, पदांश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। तत्त्व-रूप मे सभी दोषो का रस-हानि से सम्बन्ध है और जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, वे (१) या तो रस की प्रतीति को रोक देते है, या (२) रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच मे खडा कर देते है, या (३) रसास्वाद मे विलम्ब उपस्थित कर देते है। और गहरे मे जायँ तो हम देखते है कि समस्त दोषो का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य मे यह औचित्य कई प्रकार का होता है, एक पद-विषयक औचित्य, जो शब्द और अर्थ के सामजस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा व्याकरण-विषयक औचित्य, जो पदो की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है, तीसरा बौद्धिक औचित्य, जो हमारी ज्ञान-वृत्तियो के समन्वय का परिणाम होता है, चौथा भावना-विषयक औचित्य, जिसका हमारी भाव-वृत्तियो की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहाँ कही खण्डित हो जाता है वही दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषो का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषो की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषो की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमे पहले प्रकार के दोष तो प्राय. ऐन्द्रिय (कर्णगोचर) सवेदन और मानसिक सवेदन मे असामञ्जस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण मे बाधक होकर बौद्धिक सवेदनो को विशृंखल करते हुए, तथा अतिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप मे ही हमारी चित्त-वृत्तियो की अन्विति मे बाधक होते हुए रस का अपकर्ष करते है। श्रुति-कटुत्वादि मे विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गडवड हो जाती है, न्यूनपद, कष्टार्थ आदि मे मानसिक चित्र अत्यन्त धुँधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस-दोषो मे दो परस्पर विरोधी मानसिक चित्रो का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नहीं हो पाता।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हुए जिन्होने ध्वनि को नहीं, वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नही था, परन्तु उन्होने उसकी पृथक् सत्ता न मानकर उसे वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना। वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। 'कादम्बरी' मे

इसका प्रयोग परिहास-जल्पित के अर्थ में हुआ है। भामह ने इसका अर्थ 'इष्टा वाचामलंकृति.' अर्थात् 'अर्थ और शब्द का वैचित्र्य' करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपरीत रूप में ग्रहण करते हुए उसे श्लेषपोषित माना है। सारांश यह है कि भामह और दण्डी दोनों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र (असाधारण) शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्त-शैली से भिन्न होती है—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।[1]

परवर्ती आचार्यों में रुद्रट आदि प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है, केवल एक वामन ने अर्थालंकार माना है। कुन्तक ने इन सभी का विरोध करते हुए वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार मानने से इन्कार किया तथा अत्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दों में उसे काव्य का जीवन माना है। कुन्तक काव्य को आह्लादकारी अलंकार शब्दार्थ का साहित्य (सहित भाव) मानकर चले हैं।

वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होंने की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति अर्थात् कथन की विचित्रता, जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की इस व्यापक परिभाषा में उन्होंने शब्दालंकार, अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया, और इसे छह भागों में विभक्त किया, जो वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। वक्रोक्ति की परिभाषा और महत्त्व का मूल कुन्तक को भामह से मिला और कवि-प्रतिभा का भट्टतौत से। कुन्तक के परवर्ती आचार्यों ने इस महिमा-मण्डित वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को वक्रोक्त उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना। अतएव वक्रोक्ति-सम्प्रदाय कुन्तक से आरम्भ होकर उन्हीं के बाद समाप्त हो गया। वास्तव में जैसा कि काणे आदि विद्वानों ने कहा है, वक्रोक्ति सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुन्तक ने अलंकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।

वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए हमें स्वभावतः कुन्तक ही की व्याख्या का आश्रय लेना चाहिए।

कुन्तक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है विचित्र विन्यास-क्रम, जो एक ओर शास्त्र आदि में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी ओर व्यवहारगत साधारण भाषा-प्रयोग से; इसीलिए उन्होंने वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है। वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वत्ता से भिन्न काव्य-नैपुण्य के अर्थ में बहुत पहले से चला आता था, भंगी-भणिति से तात्पर्य था भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय

१. अभिनव

प्रयोग, दूसरे शब्दो मे उक्ति-चारुत्व। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है। अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय ही कवि-प्रतिभा-जन्य ही होता है। कवि-प्रतिभा एव कवि-व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नही है। यह कवि-व्यापार क्या है इस विषय मे कुन्तक मौन है क्योकि शायद इसे वे अनिर्वचनीय मानते है। कुन्तक की वक्रता एक पृथक् उक्ति मे ही सीमित न रहकर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक प्रसारित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होने वक्रोक्ति अथवा कवि-व्यापार-वक्रता के छह भेद माने है—१. वर्ण-विन्यास-वक्रता, २. पद-पूर्वार्ध-वक्रता, ३. पद-परार्ध अथवा प्रत्यय-वक्रता, ४. वाक्य-वक्रता, ५ प्रकरण-वक्रता और ६. प्रबन्ध वक्रता। वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत यमक जैसे शब्दालंकार और उपनागरिका आदि वृत्तियो का नादसौन्दर्य आता है। पद-पूर्वार्ध के अनेक भेद किए गए है, जिनमे प्रमुख है—(क) रूढ़ि-वक्रता इसमे शब्द का साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ अर्थ मे प्रयोग होता है, रूढि लक्षणा के प्रयोग प्राय· इसके अन्तर्गत आते है), (ख) पर्याय-वक्रता (इसके अन्तर्गत पद-गत औज्ज्वल्य एवं पद-चयन की गणना होती है); (ग) विश्लेषण-वक्रता (यहाँ विश्लेषण कारक, क्रिया आदि का चारु प्रयोग होता है। साधारणत पृथक् पद-गत सौन्दर्य इसके अन्तर्गत आता है) प्रत्यय-वक्रता मे वैचित्र्य प्रत्यय के वक्र प्रयोग के आश्रित होता है। हिन्दी मे यह प्राय. अव्यवहार्य ही है। वाक्य-वक्रता मे अर्थालकारो का अन्तर्भाव हो जाता है—सूक्ति आदि नवीन वाक्य-भगिमाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती है। प्रकरण-वक्रता प्रबन्ध-वक्रता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनका सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध-रचना से है। इनमे प्रकरण-वक्रता से तात्पर्य उन स्वतन्त्र उद्भावनाओ का है जिनके द्वारा कवि मूल कथा मे रमणीयता उत्पन्न करता है; और प्रबन्ध-वक्रता से तात्पर्य समस्त कथा के प्रबन्ध-कौशल का है। यहाँ मूल कथा को कवि अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। प्रकरण-वक्रता प्रकरण विशेष से सम्बद्ध है, 'शाकुन्तलम्' मे दुर्वासा-शाप प्रकरण की उद्भावना इसका उदाहरण है। प्रबन्ध-वक्रता का सम्बन्ध समस्त कथा के घटना-विधान से है, जैसा कि 'रामायण' तथा 'महाभारत' मे मिलता है, अथवा 'किरा-तार्जुनीयम्' मे, जहाँ किसी प्रसिद्ध कथा की एक घटना पर दूसरा ढाँचा खडा कर दिया जाता है। प्रबन्ध-वक्रता मे रसोत्कर्ष का भी बहुत महत्व माना गया है। इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को समस्त कवि-व्यापार या कौशल से एकरूप करके देखा है।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है :

१. वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य अनिवार्य है। उसमे किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य होनी चाहिए।

२. वक्रोक्ति की इस परिभाषा मे प्रायः सभी प्रकार का काव्य आ जाता है।

सिद्धान्त रूप से यद्यपि कुन्तक ने स्वभावोक्ति मे काव्यत्व का निषेध किया है, परन्तु व्यवहार-रूप मे वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वस्तुओ के स्वभाव का सफल अकन प्राय वाह्य अलकारो से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी होता है। परन्तु वे इस वात पर वल देते है कि वस्तु (स्वभाव) के तत्त्वो का चयन साधारण दृष्टि से न होकर कवि-दृष्टि से ही होना चाहिए। अर्थात् यह वर्णन वस्तु-परिगणन मात्र न होकर कवि-व्यापार-जन्य होना चाहिए। मैं समझता हूँ स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलकार और काव्य के अन्तर्गत मानने वाले पंडितो को भी इस परिभाषा मे कोई आपत्ति नही हो सकती, क्योकि लगभग सभी ने साधारण वस्तु-परिगणन का तिरस्कार करते हुए उसमें कवि-कौशल को ही अनिवार्य माना है।

३. सिद्धान्त रूप मे ध्वनि-रसवादियो से कुन्तक का एक मतभेद है। ध्वनिवादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत मानते हैं। कुन्तक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते है और ध्वनि तथा रस से रहित भी वक्रोक्ति एव तदनुसार काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करते है परन्तु यदि आप गहराई मे जाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद भी केवल सिद्धान्त का है, व्यवहार का नही—व्यवहार मे वक्रोक्ति और ध्वनि को एक दूसरे से सर्वथा रहित नही पाया जाता, क्योकि इन दोनो की अपनी-अपनी परिभाषाएँ इतनी लोक-व्यापक है कि किसी का भी कोई रूप दूसरे से वाहर नही पड सकता। वास्तव मे कुन्तक की वक्रोक्ति अतिव्याप्त तो अवश्य मानी जा सकती है, परन्तु अव्याप्त नही, अर्थात् विश्लेषण करने पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसमे काव्यत्व तो असदिग्ध हो परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति या वक्रता न हो। कारण स्पष्ट है—जहाँ रसत्व है वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यत वर्तमान होगा, और जहाँ कवि-व्यापार होगा वहाँ वक्रोक्ति का अभाव कैसे हो सकता है? इसी दृष्टि से कुन्तक ने रस को पूर्ण महत्त्व दिया है।

कुन्तक मे अव एक शब्द रह जाता है जो आज के आलोचक की समझ मे नही आता—कवि-व्यापार। उन्होने कवि-व्यापार को विधि-व्यापार की भाँति व्याख्यातीत मानते हुए उसकी परिभाषा तो नही की परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया है। कवि-व्यापार के तीन विभाग है—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं क्रमश सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग। इन मार्गों के आधार हैं गुण जिनमे माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य को हम विशेष गुण कह सकते है; तथा औचित्य और सौभाग्य को सामान्य गुण। इस प्रकार कुन्तक ने (रीति-सिद्धान्त को भी अन्तर्भूत करते हुए) कवि-व्यापार के वाह्य रूप का वर्णन तो किया है परन्तु उसके आन्तरिक स्वरूप की व्याख्या नही की। वास्तव मे भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार वे भी कवि को एक असाधारण (Abnormal) व्यक्ति समझते थे और कवि-प्रतिभा को जन्मान्तर-गत पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त एक दैवी शक्ति।

विवेचन—कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धांत यद्यपि स्वीकार्य नही हुआ परन्तु फिर भी उसका तिरस्कार इतनी सरलता से नही हो सकता जितनी सरलता से कि आचार्य शुक्ल ने कर दिया है। उसके दो पक्ष है—१. प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है, २. प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्यत होती है। इनमे से पहला पक्ष तो आज मान्य नही हो सकता, क्योकि इस प्रकार तो ऐसी उक्तियो को भी, जिनमे साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता वर्तमान रहती है, काव्य मानना पडेगा। किसी प्रकार का भी बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता प्रदान तो सदैव कर सकता है परन्तु उसे सरस सदैव नही बना सकता। इसीलिए तो बाद के रसवादियो ने चित्र-काव्य को काव्य की सीमा से बहिष्कृत कर दिया, यद्यपि ध्वनिकार ने उसे अधम काव्य की पदवी अवश्य दे दी थी। अतएव कम-से-कम ऐसी वक्रता को, जिसका रस से दूर का भी सम्बन्ध न हो, काव्य नही माना जा सकता। वक्रोक्ति सिद्धात का दूसरा पक्ष है कि प्रत्येक काव्योक्ति मे वक्रता अनिवार्यतः होगी। यह पक्ष बाह्यत अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी, वक्रता का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असगत नही कहा जा सकता। इधर तो वक्रता मे कुन्तक ने (बात को घुमा-फिराकर कहने को ही नही) सभी प्रकार के वैचित्र्य-वैशिष्ट्य अथवा असाधारणत्व को अन्तर्भूत कर लिया है, और उधर यह एक स्वत स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रत्येक भाव-दीप्त या रस-दीप्त उक्ति साधारण इतिवृत्तात्मक कथन की अपेक्षा कुछ विशिष्टता या विचित्रता अवश्य लिये होगी। हिन्दी के एक विद्वान् का कथन है कि इस वक्रोक्ति मे स्वभावोक्ति और इस वक्रता मे तीव्रता के लिए स्थान नही है परन्तु यह असत्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कुन्तक ने स्वभावोक्ति के केवल इतिवृत्त-वर्णन रूप को ही अस्वीकृत किया है। उनकी वक्रता का इतिवृत्तात्मकता से ही विरोध है, तीव्रता से नही, क्योकि उन्होने रस को निश्चय ही वक्रोक्ति के उपादान तत्त्वो मे से माना है। उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है, अत तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।

कुन्तक से हमे केवल क्रम-विषयक मतभेद हो सकता है। उनका मत है कि काव्य का आह्लाद (रस) उक्ति-वक्रताजन्य है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति मे वक्रता आती है। अपने उद्दीप्त मनोविकारो का भावन करने मे कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति मे वक्रता आ जाती है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन रस-प्रसग मे हो चुका है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा, वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नही हो सकती। कुन्तक धुर मूल तक न पहुँचकर उससे एक मजिल पहले ही रुक गए है और उसी को आखिरी मजिल मान बैठे है—

उनके सिद्धांत का यही दोष है। पश्चिमी आलोचना की शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना-तत्त्व को भाव-तत्त्व की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है—वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जो इतना बल दिया गया है वह वास्तव में कल्पना-तत्त्व को ही महत्त्व दिया गया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद—कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्लजी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थवाद के रूप में ही ग्रहण कर सकते हैं; इससे आगे नहीं क्योंकि इन दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धान्त स्पष्ट हो जाना चाहिए।

क्रोचे मूलत आत्मवादी दार्शनिक है, जिसने अपने ढंग से उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्त सत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियाएँ मानता है, एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप भंकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित करके एक पूर्ण बिम्ब-रूप दे देती है और इस प्रकार हमें उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतंत्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यंजना भी है अथवा केवल अभिव्यंजना ही है। क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नहीं। जो अभिव्यंजना द्वारा व्यक्त नहीं होता, उसका सहजानुभव ही नहीं होता—वह संवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकारमात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यंजना। सफल अभिव्यंजना या केवल अभिव्यंजना ही—क्योंकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यंजना ही नहीं है—कला अथवा कलात्मक सौन्दर्य है। कलात्मक सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है। अतएव उससे अधिक सुन्दर अथवा अधिक व्यंजक की कल्पना ही सम्भव नहीं, हाँ कुरूपता—जो असफल व्यंजना का दूसरा नाम है—श्रेणी-सापेक्ष्य है; उसकी कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती हैं। इसी कारण क्रोचे अभिव्यंजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक समझता है—अभिव्यंजना तो एक स्वतन्त्र इकाई है, जो वर्ग कभी नहीं बन सकती। इसलिए वह अलंकार और अलंकार्य के भेद का निषेध करता है और अलंकारों के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है। इसीलिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है, क्योंकि अनुवादक

की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है। उसके लिए शैली और कवि-व्यापार का भी इसी कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य मे वस्तु और अभिव्यजना मे अभेद मानता है। वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नही करता परन्तु उसको अरूप झकृतियो से अधिक और कुछ नही मानता। काव्य-वस्तु का महत्त्व हमारे लिए तभी है, जब वह आकार धारण कर लेती है। अपने अमूर्त रूप मे वस्तु जड है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती है पर सृजन नही कर पाती। सृजन बिना आकार के सम्भव नही है, अतएव कला मे आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नही होता। यह ठीक है कि वस्तु वह तत्त्व है जो आकार मे परिणत होता है, परन्तु आकार मे परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा तो होती ही नही। इस प्रकार वस्तु और आकार का कला मे पृथक् अस्तित्व नही माना जा सकता।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप की बात। पर क्रोचे अभिव्यजना के आन्तरिक रूप और बाह्य रूप मे अर्थात् कला और कला-कृति मे अतर मानता है। कला आध्यात्मिक क्रिया है, कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप; जो सदैव अनिवार्य नही होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणो मे विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप सवेदना (आ) अभिव्यजना अर्थात् संवेदनो की आतरिक समन्विति (इ) आनन्दानुभूति (सौन्दर्यजन्य आनन्द की अनुभूति) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्त्वो मे अनुवाद और अतिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कला-कृति। कहने की आवश्यकता नही कि पाँचो मे मुख्य क्रिया दूसरी ही है।

साराश यह है कि

१. अभिव्यजना एक सहज स्वतत्र आध्यात्मिक क्रिया है, जिसका आधार मूलत कल्पना है।

२ अभिव्यजना की सफलता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की श्रेणियाँ नही हो सकती।

३. व्यंजक उक्ति और व्यंग्य भाव एक दूसरे से पृथक् नही हो सकते। व्यग्य भाव का व्यजक उक्ति से पृथक् अस्तित्व नही है।

४ अभिव्यंजना का केवल एक अविभाज्य रूप ही होता है। अतएव काव्य मे शैली, अलकार आदि का पृथक् महत्व नही होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्लजी-कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद का एकीकरण दूरारूढ कल्पना पर आश्रित नही है। दोनो मे पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नही है।

साम्य

१ क्रोचे और कुतक दोनो ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते है,

जो अनिर्वचनीय है।

२ दोनो ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यजना को अधिक महत्त्व देते हैं अर्थात् उक्ति मे काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते है, वस्तु या भाव मे नही।

३ दोनो ही सौन्दर्य मे श्रेणियाँ नही मानते, क्योकि सफल अभिव्यजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तक—

न च रीतीनाम् उत्तमाधममध्यमभेदेन वैविद्ध्यम् व्यवस्थापयितु न्याय्यम्।

क्रोचे—

The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful, that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate.

वैषम्य

१ वक्रोक्तिवाद और अभिव्यजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्ति-वाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यजनावाद का केवल उक्ति से है। वक्रोक्ति-वाद एक साहित्यिक वाद है, अभिव्यजनावाद अभिव्यजना की फिलासफी। वक्रोक्ति-जहाँ एक प्रकार का कवि-कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

'वक्रोक्तिकार नित्य की बोल-चाल की रीति से सन्तुष्ट नही होते, 'वक्रत्व प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम्'। मै तो यह कहूँगा कि अभिव्यजनावाद मे स्वभा-वोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नही है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नही है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यंजनावाद मे ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमे प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद है न स्वोभावोक्ति-वक्रोक्ति का।"

२. वक्रोक्तिवाद अलकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद मे उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलकार-रूप मे नही सहज उक्ति के रूप मे ही आता है।

३ वक्रोक्तिवाद मे वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये है; प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

४. वक्रोक्तिवाद मे कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद मे भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त रूपों पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब-कुछ मानता है।

५. अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झंकृतियो की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस (भाव) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्ति कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सम्बन्ध बहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का तत्त्व-रूप मे रसवाद से कोई विरोध हो नहीं सकता।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किये है। उनमे सबसे मुख्य यह है कि ये 'अनुभूति या प्रभाव का विचार छोडकर केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियो से कोई सम्बन्ध नही। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।" अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोडकर किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नही करता है। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है, परन्तु जैसा कि मैने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता आ जाती है। वास्तव मे कुन्तक की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय 'रमणीयता' मे कोई भी अन्तर नही है। कौतूहल-जनक चमत्कार का कुन्तक ने बहिष्कार तो नही किया, परन्तु उसे अत्यन्त हेय माना है। फिर ऐसी उक्ति, जिसमे रस हो परन्तु वक्रता न हो, सामने लाना भी तो आसान नही है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत पद्माकर की यह रमणीय उक्ति 'नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी' सीधी-सादी नही है, इसकी वक्रता की कैफियत तो उन लला से पूछिए जिनसे 'नैन नचाकर' और 'मुसकाकर' यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी'।

फाग के भीर अभीरनि त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की झोरी॥
छीन पिताम्बर कम्मर तें सु विदा दई मीड़ कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी॥[1]

हमे आश्चर्य है कि व्यग्य से वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधी-सादी कैसे मान बैठे?

शुक्ल जी का दूसरा आक्षेप यह है कि इनमे अभिव्यंजना या उक्ति ही सब कुछ है, वह वस्तु, जिसकी अभिव्यंजना की जाती है, कुछ नही, परन्तु यह तो शुक्ल जी स्वय भी मानते है कि काव्यत्व उक्ति मे रहता है, व्यग्य वस्तु या भाव मे नही। रही

---

१. जगद्विनोद

वस्तु के महत्व की बात तो उक्ति-वक्रता अथवा अभिव्यंजना को महत्व देते हुए भी इन दोनो वादो मे वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नही किया गया। कुन्तक ने तो वस्तु को निश्चय ही पर्याप्त महत्व दिया है, स्वय उसका पृथक् विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु[1] को कला का उद्दीपक तथा कला-वस्तु अर्थात् अरूप भाव-झंकृतियो या सवेदनो को कला का मूल उद्‌गम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव से सर्वथा वचित नही किया। अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी 'काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमे वस्तु और अभिव्यजना का निश्चित पार्थक्य मानते है, क्रोचे दोनो मे निश्चित भेद असम्भव मानते है। पर क्रोचे-शुक्ल के इस विवाद मे आज का साहित्यिक शायद क्रोचे को अपना वोट देगा।

ध्वनि-सम्प्रदाय

अन्य सम्प्रदायो की भाँति ध्वनि-सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिष्ठापकद्वय (?) के जन्म से बहुत पूर्व ही हुआ था। स्वयं ध्वनिकार ने ही अपने पहले छन्द मे इस तथ्य को स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है—"काव्य-स्यात्मा ध्वनिरिति बुधर्य समाम्नातपूर्वः"[२] अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानो का भी मत है। वास्तव मे इस सिद्धान्त के मूल सकेत उनके समय से बहुत पहले वैयाकरणो के सूत्रो में विस्फोट आदि के विवेचन मे मिलते है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन मे भी व्यंजना एव अभिव्यक्ति (दीपक से घर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलकार और रीतिवादी आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तो का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णत. परिचित नही थे, परन्तु फिर भी आनन्दवर्द्धन का कहना है कि वे कम-से-कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गए थे। अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्‌भट और वामन को साक्षी रूप माना है। उद्‌भट का ग्रन्थ 'भामह-विवरण' आज उपलब्ध नही है, अतएव हमे सबसे प्रथम ध्वनि-सकेत वामन के 'वक्रोक्ति विवेचन' मे ही मिलता है—"**सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।**" लक्षणा मे जहाँ सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

विद्वानो का मत है कि ईसा की ९वी शताब्दी के मध्य मे 'ध्वन्यालोक' की रचना हुई। 'ध्वन्यालोक' एक ही लेखक आनन्दवर्द्धन की कृति है, अथवा आनन्दवर्द्धन केवल वृत्तिकार थे, कारिका उनके पूर्ववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचार्य ने रची है, इस विषय पर पडितो के विभिन्न मत है। डाक्टर बुहलर और उनके अनु-

---

१ Natural objects

२. ध्वन्यालोक १ १

सरण पर डा० डे तथा प्रोफेसर काणे आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और वृत्ति-कार आनन्दवर्द्धन दो भिन्न व्यक्ति थे, उधर डा० शकरन ने अनेक प्रकार के अतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर सस्कृत आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार करते हुए दोनो को एक माना है। यह विवाद अभी किसी निर्णय पर नही पहुँचा, अतएव हिंदी के विद्यार्थी को इसमें उलझने की आवश्यकता नही है—यहाँ हम इस समय तो बहुमत के सिद्धातानुसार दोनो को पृथक् ही मान लेते है।

'ध्वन्यालोक' एक युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धात की प्रतिष्ठा की जो युग-युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धांत प्रचलित थे वे प्राय. सभी एकागी थे—अलकार और रीति तो काव्य के बहिरग को ही छूकर रह जाते थे, रस-सिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमे दूसरा दोप यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छदो के विपय मे विभाव, अनुभाव व्यभिचारी आदि का सघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पड़ती थी, और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदो को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियो को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे है—१. ध्वनि-सिद्धात की निर्भ्रान्त शब्दो मे स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धात के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २. रस, अलकार, रीति, गुण और दोप-विपयक सिद्धातो का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना, और इस प्रकार काव्य के एक सर्वागपूर्ण सिद्धान्त की रूप-रेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नही कि इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति मे ध्वनिकार अपने वृत्ति-लेखक आनन्दवर्द्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए है।

संक्षेप मे, ध्वनि-सिद्धात इस प्रकार है. काव्य की आत्मा ध्वनि है; अर्थात् काव्य मे मुख्यत: वाच्यार्थ का नही वरन् व्यग्यार्थ का सौदर्य होता है। व्यग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से काव्य के तीन भेद हो सकते है—उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य, मध्यम अथवा गुणीभूतव्यग्य-काव्य, और अधम अर्थात् चित्र-काव्य। ध्वनि स्वय तीन प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि, अलकार-ध्वनि, और रस-ध्वनि। इन तीनो मे रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार इन आचार्यो ने भी रस को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-तत्त्व माना है, और जहाँ रस सर्वथा नि शेष है, जैसे चित्र-काव्य मे—वहाँ केवल वाग्-विकल्प की ही स्थिति मानी है। इसीलिए तो आधुनिक विद्वान् ध्वनि-सिद्धात को रस-सिद्धात का ही विस्तार-सूत्र मानते है, और यह बहुत अशो में ठीक भी है।

यह सब होते हुए भी ध्वनि-सम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनव गुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके 'लोचन' का वही गौरव है जो 'महा-भाष्य' का है। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रज्ञा और प्रौढ विवेचना के द्वारा ध्वनि-विषयक समस्त भ्रांतियो और आक्षेपो को निर्मूल कर दिया और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दो मे स्थित किया। अभिनव एक प्रकार से रसवादी ही थे। उन्होंने ध्वनि को प्राय: रस के सम्बन्ध से ही महत्त्व दिया है।

परन्तु यह समझना असंगत होगा कि ध्वनि-सिद्धात निर्विरोध स्थापित हो गया था। आनन्दवर्द्धन के उपरात ही भट्टनायक ने व्यजना के अस्तित्व का निषेध करते हुए भावकत्व और भोजकत्व दो काव्य-शक्तियो की उद्भावना की। किन्तु अभिनव गुप्त ने सबल तर्कों द्वारा उनको अनर्गल प्रमाणित किया एवं व्यजना की ही पुष्टि की। भट्टनायक के पश्चात् ध्वनिवाद को कुतक और महिम भट्ट जैसे पराक्रमी विरोधियो का सामना करना पडा। कुतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही ग्रहण करके उसको काव्य की आत्मा मानने से इन्कार कर दिया; उधर महिम भट्ट ने कहा कि व्यजना की उद्भावना ही तर्क-सम्मत नही है। शब्द की केवल दो ही शक्तियाँ मानी गई है—अभिधा और लक्षणा, यह तीसरी शक्ति व्यजना कहाँ से आ गई! वे स्वय तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानते हैं—अभिधा, वास्तव मे जिसे व्यजना कहा गया है, वह स्वतन्त्र शब्द-शक्ति न होकर केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद है—जिसे उन्होने नाम दिया 'काव्यानुभूति'। इसी काव्यानुभूति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। महिम भट्ट का यह सिद्धांत स्पष्टत: ही श्री शकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित था और उसी की तरह यह भी ग्राह्य न हो सका। भट्टनायक, कुतक और महिम भट्ट के परास्त हो जाने पर ध्वनि का राज्य एक प्रकार से अकण्टक ही हो गया। परवर्ती आचार्यो मे मम्मट ने लगभग सभी प्रचलित विचारो का खडन-मडन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। ध्वनि के भेद प्रभेद बढते-बढते अब १०,४४५ तक पहुँच गए थे। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्त्व देने का प्रयत्न किया परन्तु उनका विरोध पडितराज जगन्नाथ द्वारा बडे ज़ोर से हुआ। पण्डितराज ने ध्वनिकार-कृत काव्य के तीन भेदो से सन्तुष्ट न होकर उनमे एक भेद उत्तमोत्तम' की और वृद्धि की। इस प्रकार गुणीभूत-व्यग्य को, जिसे कि ध्वनिकार ने निश्चित ही मध्यम काव्य-श्रेणी मे रख दिया था, उत्तम काव्य का गौरव प्राप्त हो गया। वास्तव मे ध्वनि और रस-सिद्धातो का समन्वय, जिसका आरम्भ अभिनव ने ही कर दिया था, इस समय तक आते-आते पूर्ण हो चुका था, और अब आचार्य दोनो मे विशेष भेद नही करते थे। हिन्दी रीति-ग्रन्थो की जो परम्परा प्राप्त हुई, उसमे ध्वनि का रस मे बहुत-कुछ अन्तर्भाव

हो चुका था; इसलिए हिन्दी के आचार्यों ने ध्वनि का साधारण रूप से उल्लेख करते हुए रस का ही विवेचन किया है। फिर भी कुलपति, प्रतापसाहि आदि ने काव्य का जीवन ध्वनि को ही माना है, रस को नहीं।

ध्वनि का आधार और स्वरूप—ध्वनिकार ने अपने सिद्धांत का आधार वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो वही स्फोट है। यह स्फोट शब्द, वाक्य और समस्त प्रबन्ध तक का होता है। शब्द-स्फोट का एक उदाहरण लीजिए—गौः शब्द मे ग्, औ और विसर्ग ये तीन वर्ण है—इन तीनो वर्णों मे से गौः का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहे कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ है। और यदि यह कहे कि तीनो वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती, अर्थात् विसर्ग तक आते-आते ग् की ध्वनि का लोप हो जायगा, जिसके कारण तीनो वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरान्त वैयाकरणो ने स्थिर किया कि अर्थ-बोध शब्द मे स्फोट द्वारा होता है—अर्थात् पूर्व वर्णों के सस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते हैं: यही स्फोट है; जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है। जिस प्रकार प्रथक्-प्रथक् वर्णों की आवाज़ सुनकर भी अर्थबोध नही होता वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दो का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नही होता—वह केवल व्यग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है, और व्यग्यार्थ का बोध शब्द की अभिधा, लक्षणा से इतर एक तीसरी विशिष्ट शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि-सिद्धांत की उद्भावना की। जैसे घटे पर चोट लगाने से पहले टंकार होती है और फिर उसमे से मीठी झंकार-ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टकार और व्यंग्यार्थ को झकार समझना चाहिए। ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) अभिधा-मूलक (२) लक्षणा-मूलक। अभिधा-मूलक ध्वनि को विवक्षित-अन्य-परवाच्य ध्वनि कहते है जिसके दो भेद है असलक्ष्यक्रम, और सलक्ष्य-क्रम—रसादि असलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत आते है। लक्षणा-मूलक-ध्वनि को अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि कहते है। उसके भी दो भेद—(१) अर्थान्तर सक्रमित-वाच्य (२) अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य। आगे इनके अनेक भेद-प्रभेद हुए है।

व्यजना-शक्ति—ध्वनि-सिद्धात का सम्पूर्ण भवन व्यंजना शक्ति के आधार पर खडा हुआ है, परन्तु पूछा जा सकता है कि इस नवीन उद्भावित शक्ति का भी

कोई आधार है या नही। और वास्तव मे ध्वनि के विरोधियो ने—भट्ट नायक और महिम भट्ट ने—पहला आक्रमण व्यजना पर ही किया भी। परन्तु व्यजना का आधार अत्यन्त सुदृढ था और वह इन सभी आघातो के उपरांत भी अटल रहा। एक तो व्यजना की उद्भावना और नामकरण चाहे ध्वनिकार ने ही किया हो, परन्तु उसका प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत प्रशसा, व्याजस्तुति-जैसे वक्रतामूलक अलकारो मे अर्थबोध व्यजना के ही द्वारा सम्भव था। उदाहरण के लिए 'न स सकुंचित पन्था येन वाली हतो गत' मे अभिधा तो इतना ही कह कर मौन हो जाती है कि जिस पथ से वाली यमपुर गया है वह सकुचित नही हुआ; लक्षणा सकुचित का आशय अधिक-से-अधिक स्पष्ट कर देगी, परन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो, प्रतीति कैसे होती है? इसके लिए व्यजना की सत्ता मानना अनिवार्य है क्योकि इसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यह तो रही अभावमूलक युक्ति। भावमूलक तर्को द्वारा भी व्यंजना की मान्यता स्थापित की जा सकती है. शब्द-शक्ति के इस प्रचलित उदाहरण को ही लीजिए 'गगाया घोप'। यहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ है 'गगा पर घर', परन्तु चूंकि गगा-प्रवाह पर घर की स्थिति अकल्पनीय है, अतः अभिधा का वाध होने पर लक्षणा की सहायता से सामीप्य के कारण इसका अर्थ हुआ गगा के किनारे। परन्तु वक्ता ने 'गगा के किनारे' न कहकर 'गगा पर' कहा इसका क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यह है कि वह ऐसा कहकर उस घर के शैत्य, पवित्रता आदि गुणों का वोध कराना चाहता है। यदि ऐसा नही होता तो यह प्रयोग ही निष्प्रयोजन है और यदि ऐसा होता है तो उसका वोध कराने के लिए अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्द-शक्ति व्यजना की भी सत्ता माननी पडेगी।

ध्वनिकार अभिनव गुप्त और वाद मे मम्मट आदि आचार्यो ने अनेक अकाट्य तर्कों द्वारा व्यजना का प्रतिपादन किया है जिसका सारांश सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दो मे यह है

१. जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा मे जो प्रयोजन-रूप व्यग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका वोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

२. असलक्ष्य-क्रम-व्यग्य मे रस-भावादि व्यग्य रहते हे जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ है, न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३ समान अर्थ के वोधक शब्दो का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परन्तु व्यग्यार्थ भिन्न हो सकते है।

४. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

५. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे काल-भेद सर्वत्र रहता है: अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद मे होता है।

६. वाच्यार्थ केवल शब्द मे ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष मे भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य-मार्मिको को ही भासित हो सकता है।

८. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

महिम भट्ट ने व्यंग्यार्थ को स्वतन्त्र न मानकर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते हैं कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा की जाती है, वह वास्तव मे अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यंग्यार्थ मे लिंग-लिंगी-सम्बन्ध है। इसके उत्तर मे मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नही होता, ऐसा भी प्रायः होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग (साधन-हेतु) निश्चयात्मक न होकर अनैकातिक (व्यभिचारी) ही हो और उससे लिंगी (साध्य) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते हैं?[1]

वैसे भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान मे साधन से साध्य की सिद्धि तर्क के आधार पर होती है, पर ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे नही होती। यह प्रत्यक्ष है इसमे प्रमाण की आवश्यकता नही।

ध्वनि और रस—भरत ने रस की परिभाषा की है विभाव अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक-रूप रस का नही--अर्थात् रस वाच्य नही होता। इतना ही नही, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यंजना के विषय मे कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नहीं करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थित वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नही होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों मे 'व्यंजना' या 'ध्वनन'

१. देखिये 'काव्यप्रकाश' पंचम उल्लास का उत्तरार्ध।

होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मानकर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गए है उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद है—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलकार-ध्वनि। इनमे रस-ध्वनि सर्व-श्रेष्ठ है। इस प्रकार रस-ध्वनि इस सिद्धात के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिए। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति सवेद्य बनाता है। सवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नही होता, वरन् उसके हृदय मे समान रागात्मक अनुभूति का सचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय-रस का बोध न कराकर सवेदन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नही। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरात, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न करके (क्योकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पडता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' मे प्रयुक्त न करके विशेष 'चित्र-रूप' मे प्रयुक्त करना पडता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन मे भावना का जो चित्र जगाये वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो, और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है क्योकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना मे यह चित्र साकार कैसे होगा?

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना-शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा—शब्दों—को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुनकर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नही होता वरन् उनके मन मे एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था मे पहुँच कर रूप-सवेदन मे विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यजना' और रस के इस सवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव मे ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्त्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तो का समाहार—जैसा कि आरम्भ मे ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यो को लेकर चले थे, उनमें से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धातो का ध्वनि मे समाहार करना भी था और वास्तव मे बाद मे ध्वनि-सिद्धान्त

की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमे न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति अलकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नही जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति रीति, अलकार, वक्रता आदि भी व्यग्य ही रहते है। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणो का कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियो का, न उपमा आदिक अलंकारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि-रूप मे ही उपस्थित रहते है। दूसरे गुण, रीति, अलकार आदि तत्त्व प्रत्यक्षत अर्थात सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नही देते। अतएव ये सभी उसी के सम्बन्ध से, उसी का उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते है। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नहीं है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है, क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नही होगा वहाँ ये आत्मा-विहीन पच तत्त्वो अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होगे। इसलिए ध्वनिकार ने इन्हे ध्वन्यार्थ रूप अगी के अग माना है। इनमे गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ (जो मुख्यतः रस ही होता है) अन्तरग रूप से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-सघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है, इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-सस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढाता हुआ वास्तव मे उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलकारो का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलकारो का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक काव्य-शब्द मे अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालकार का और प्रत्येक प्रकार के काव्य मे उपमा या किसी अन्य अर्थालकार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारो की स्थिति आभूषणों की-सी है, जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढाते हुए अन्ततः आत्मा के सौन्दर्य मे ही वृद्धि करते है क्योंकि शरीर-सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नही है। शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते है। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलकार को अत्यन्त संकुचित अर्थ मे ग्रहण किया है। अलंकार को व्यापक रूप मे ग्रहण करने पर अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति-चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यजना का—जैसा कि कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय मे किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलकार-अलकार्य मे इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

उपसंहार—वास्तव मे हमारे साहित्य-शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो यह प्रतिद्वन्द्विता खडी हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचार्य अलंकार्य-अलकार—आत्मा-शरीर—मे न केवल व्यवहार-रूप से ही वरन् तत्त्व-रूप से भी अत्यन्त स्पष्ट भेद मानकर चले है। रस, अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ये पाँच पृथक् सिद्धान्त नही है वरन् मूलतः केवल दो ही सिद्धान्त है —रस और रीति अथवा रस और अलकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे देता है, दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलत' रस के ही अन्तर्गत आ जाते है और ये आत्मवादी है, अलकार, रीति और वक्रोक्ति तत्त्वत. रीति अथवा अलकार के अन्तर्गत आते है (शुक्ल जी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव मे अलंकार की अपेक्षा अधिक सगत एव स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी है। आत्मा और शरीर की सापेक्षित अनिवार्यता स्वत' सिद्ध है, यदि आत्मा के विना शरीर निरर्थक है तो शरीर के विना आत्मा का भी कोई मूर्त्त अस्तित्व नही है। यही वात रस और रीति के सम्वन्ध में भी घटती है। भाव का सौन्दर्य उक्ति के सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव के सौन्दर्य से निरपेक्ष नही हो सकता। उक्ति के सौन्दर्य में मैं केवल कौतूहल या तमाशा करने वाले चमत्कार को, जिसे वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नही करता, क्योकि वह सभी दशाओं मे सहृदय का अनुरजन नही कर सकता। इसलिए तत्त्व-रूप मे रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नही हो सकते। ये तो एक दूसरे के पूरक एव अन्योन्याश्रित है और इसलिए प्रतिवाद करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्त्व को किसी न किसी रूप मे स्वीकार ही करते रहे है।

नायिका-भेद

पूर्व-वृत्त—नायिका-भेद को लेकर सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे कोई नवीन वर्ग नही उठ खडा हुआ। उसका कोई विशेष महत्त्व भी नही था। आरम्भ मे केवल नाट्य-शास्त्रो मे ही नायक-नायिका का वर्गीकरण एव उनके भेद-प्रभेदो का वर्णन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रो के शील, मर्यादा का आदि से अन्त तक उचित रीति से निर्वाह कर सके। परन्तु वाद मे जव रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसो मे भी शृंगार को रस-राजत्व प्राप्त हो गया तो शृगार के आलम्बन-रूप नायक-नायिका को भी विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वर्णन होने लगा। नाट्य-सम्वन्धी ग्रन्थ तो मुख्यतः दो ही है—एक भरत का 'नाट्य-शास्त्र' दूसरा धनजय का 'दश-रूपक'। साहित्य-शास्त्र के अन्य अगो की भाँति नायिका-भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने किया है। 'नाट्य-शास्त्र' के वाईसवे अध्याय मे नायिका-भेद की लगभग

समस्त सामग्री किसी-न-किसी रूप मे मिल जाती है। उसमे मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मान-मोचन के उपाय, दूती आदि अन्य सब प्रसगो का भी विस्तृत वर्णन है। भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा :

समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा॥ ना० शा० ३४।१,२

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदो में विभक्त किया जा सकता है :

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठितापि वा।
स्वाधीनपतिका वापि कलहान्तरितापि वा॥
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृताः॥

—नाट्यशास्त्र २२।२०३, २०४

इसके आगे भरत ने स्त्रियो के फिर तीन भेद किए हैं—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव मे सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारातर ही है)। उधर नायक के धीर-ललित आदि भेदों के समानान्तर भी उन्होंने नायिकाओ के चार भेद माने है। अन्त मे, राजाओं के अन्त:पुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी, स्वामिनी से लेकर अनुचारिका परिचारिका, आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यो ने प्रकृति-भेद, अवस्था-भेद, तथा कर्म-भेद को तो ज्यों-का-त्यो ग्रहण कर लिया है। हाँ, धीर-ललित आदि भेदो को उन्होंने नायको तक ही सीमित रखा है। अन्त:-पुरवासिनी, महादेवी, देवी, आदि भी धीरे-धीरे किसी-न-किसी व्याज से नायिका-भेद मे अतर्भूत हो गई।

धनंजय का विवेचन स्वभावत ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव मे उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्र भट्ट उसको व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनंजय ने भरत के प्रकृति, कर्म और अवस्था-भेदो के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए है, और वय-भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय-भेद—मुग्धा—१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४ कोपमृदु
—१. यौवनवती
२. कामवती

प्रगल्भा—१ गाढ-यौवना
२. भाव-प्रगल्भा
३. रति-प्रगल्भा[1]

इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस-प्रसग के अन्तर्गत नायिका-भेद का उपर्युक्त वर्णन किया है—इनमे क्षेमेन्द्र, केशव मिश्र और विशेष रूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय है। विश्वनाथ का विवेचन धनंजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। (शायद धनजय से ही सकेत ग्रहण करके) उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढा के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किए है :

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्णयौवना, (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा, (३) रतिवामा, (४) मानमृदु, (५) समधिकलज्जावती।

मध्या—(१) विचित्रसुरता, (२) प्ररूढस्मरा, (३) प्ररूढ़यौवना, (४) ईषत्-प्रगल्भवचना, (५) मध्यमव्रीडिता।

प्रगल्भा—(१) स्मरान्धा (२) गाढतारुण्या (३) समस्तरतकोविदा (४) भावोन्नता (५) दरव्रीडा (६) आक्रान्तनायका।[2]

नायिका के अलकारों की सख्या विश्वनाथ ने दस से अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रथ तो आधार मात्र रहे। नायिका-भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रथ रुद्र भट्ट का 'शृगारतिलक' ही माना जा सकता है, क्योंकि वही काव्य-शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रथ है, जिसमे शृगार को मुख्य रस मानकर उसके अंग-उपांगों अर्थात् सभोग, विप्रलम्भ, नायक-नायिका, काम-दशा, मान-मोचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या मिलती है। 'शृगार-तिलक' के बाद इस प्रकार का दूसरा ग्रथ भोज का 'शृगार-प्रकाश' है, जिसमे शृगार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपर्युक्त सभी प्रसगो का अपनी विस्तार-प्रिय शैली मे 'अग्नि-पुराण' के अनुसरण पर बीस परिच्छेदो मे विस्तृत विवेचन किया है। इसके बाद से इन शृगार-परक ग्रथों की झड़ी लग गई और न जाने कितने छोटे-मोटे ग्रथो का प्रणयन हुआ, जिनमे शारदातनय का 'भाव-प्रकाश', शिगभूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त के दो ग्रथ 'रस-तरगिणी' और 'रस मजरी', विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनमे सबसे व्यवस्थित ग्रंथ है 'रस-मंजरी' जो हिन्दी-नायिका-भेद का मूलाधार है।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रंथो का उचित परीक्षण करने के उपरात नायिका-भेद को सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है। इसमे सन्देह नही कि उन्होंने उसका अत्यधिक विस्तार किया है, परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के कतिपय अनावश्यक

१. देखिए दशरूपक
२ साहित्यदर्पण (३।५६, ६०)

भेदो को यथास्थान काट-छाँट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य-शास्त्र के उन्नायक आचार्यों मे तो कोई स्थान नही है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यत विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यत स्पष्ट और सांगोपाग है, इसीलिए तो उत्तरकालीन कवि-शिक्षा-प्रणेताओ मे वे सबसे अधिक लोक-प्रिय हो गए। हिन्दी मे आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की 'हिततरगिणी', नन्ददास की 'रसमजरी', चितामणि का 'कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का 'रस-राज', देव का 'भाव-विलास', रसलीन का 'रसप्रबोध', वेनीप्रवीन का 'नवरस-तरग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि, प्राय समस्त शुद्ध रस-ग्रथ 'रस-तरगिणी', और 'रस-मजरी' से अत्यत स्पष्ट रूप मे प्रभावित है। इनमें स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कही-कही सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य-युग मे भानुदत्त के उपर्युक्त दोनो ग्रथ पाठ्य-ग्रथ के रूप मे पढे जाते थे। 'रस-मजरी' मे मुग्धा के केवल तीन भेद माने गए है :

१ अकुरित यौवना (ज्ञात-यौवना और अज्ञात-यौवना)
२ नवोढा
३. विश्रब्ध-नवोढा।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नही किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किये गए है—(१) रतिप्रीता, (२) आनन्दात्म समोहा।

विश्वनाथ ने परकीया के केवल दो भेद माने है : (१) परोढा (२) कन्यका; परन्तु भानुदत्त ने परोढा के प्रमुख ६ भेद और उनमे से कई भेदो के अवान्तर भेद कर दिए है

परोढा १. गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत्, (इ) वर्तमान]
२ विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा, (आ) क्रिया-विदग्धा]
३. लक्षिता, ४ कुलटा ५ अनुशयना :—
{ १. वर्तमान स्थान-विघट्टना
२ भावी स्थान ,,
३ सकेत-स्थाल-नष्टा }
६ मुदिता

इसी प्रकार अवस्था-भेदो मे मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए—उनमे अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले है

अभिसारिका—(१ ज्योत्स्नाभिसारिका, २. दिवाभिसारिका,
३. तमोभिसारिका)

और प्रोषित-भर्तृका के अन्तर्गत प्रोत्स्य-भर्तृका का भी उल्लेख किया है। उधर वर्गक्रम मे भी विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए .

दशानुसार—१. अन्य-सभोग-दु.खिता, २. वक्रोक्ति-गर्विता (प्रेम-गर्विता), (सौन्दर्य-गर्विता)
३. मानवती।

पति-प्रेमानुसार—१. ज्येष्ठा, २. कनिष्ठा।

अशानुसार—१. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने शृङ्गार रस के इन प्रसगो की भक्तिपरक व्याख्या करते हुए उनको एक नया रूप ही दे डाला। उन्होने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन मे मुख्य रम माना उज्ज्वल या माधुर्य। भक्ति के पाँच भेद है—शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमे माधुर्य सवसे प्रमुख है—इसी को उन्होने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है, जो वास्तव मे शृङ्गार का ही धार्मिक रूप है। इसका स्थायी भाव है कृष्ण-रति, और आस्वादयिता है भक्त। शृङ्गार के भेद-प्रभेदो और समस्त नायिका-भेद को लेखक ने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के अनुसार ही घटाया है। यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिय अनुभूतियो से सम्बन्ध न रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्बन्ध रखता है।

इन लेखको ने रस-शास्त्र के विवेचन मे किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनाएँ नही की। वास्तव मे इनका सम्बन्ध भी काव्य-शास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र से ही अधिक था। फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हो, परन्तु इनकी रसिकता मे सन्देह नही किया जा सकता। इन्होने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है। अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होने शृगार रस को ले लिया और उसी के विभिन्न अगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट से स्वय कहा है, उदीयमान कवियो को शृंगार के छद रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिको का मनोरजन एव ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा वढाना था—"कि गोष्ठी मण्डन हन्त शृगार-तिलक विना"।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार—सवसे पूर्व नायिका के साधारण लक्षण को ही लीजिए—"नायक की ही भाँति त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी रूप, यौवन, चातुर्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि के गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है।" नायिका को उपर्युक्त गुणो से अलंकृत मानने का मूल कारण हमे रस के साधारणीकरण सिद्धात मे मिलेगा। साधारणीकरण मुख्यतः आलम्वन का ही होता है। अतएव शृगार की आलम्वन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह सभी के रति-भाव की आलम्वन हो सके। इसी दृष्टि से उसमे उपर्युक्त गुणो को अनिवार्य मानकर उसके अन्तर्बाह्य को आकर्षक रूप दिया गया है। इस प्रकार काव्य मे स्थूलत' किसी प्रकार वाणी अथवा कर्म द्वारा मर्यादा-

उल्लंघन की आशका नही रहती।

जैसा कि मैने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद-प्रभेदो का आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नही है, परन्तु उसे सर्वथा अनर्गल फिर भी नही कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि यह विभाजन नारी की आन्तरिक मनोवृत्तियो से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एव सर्वव्याप्त आधार को लेकर नही किया गया, परन्तु उसके पीछे कोई आधार या सगति ही न हो यह वात भी नही है। वास्तव मे यहाँ हमे विभिन्न आधारो की संसृष्टि मिलती है, जो अधिकाश मे जीवन के वाह्य रूपो पर आश्रित है। प्राचीन आचार्यो ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने है :

१. जाति—पद्मिनी, शखिनी इत्यादि।

२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या।

३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा।

४ वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढा।

५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा।

६. दशा—अन्य-सुरति-दु खिता, मानवती और गर्विता।

७ काल (अवस्था)—प्रोपित-पतिका, कलहातरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि।

८ प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

आइये इनकी एक-एक करके परीक्षा करे। पहले आधार को नाम दिया गया है जाति। वास्तव मे नायिकाओ का यह वर्ग और इसका यह नाम दोनो ही 'काम-शास्त्र' से लिए गए है। 'काम-शास्त्र' मे यह भेद स्त्री की काम-सम्वन्धी प्रतिक्रियाओ को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निर्भर रहती है, किये गए है। साधारणत सस्कृत मे जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के पारिभापिक रूप मे किया गया है जिसमे आपत्ति के लिए कोई स्थान नही है। वैसे यह जाति-विभाजन वहुत-कुछ प्रकृति के ही आधार पर किया हुआ है। वर्ग और जाति का अर्थ है यहाँ 'प्राकृतिक वर्ग'। दूसरे वर्ग के लिए कर्म शब्द का प्रयोग है। यह शब्द वास्तव मे अर्ध व्यक्त है। कर्म से तात्पर्य शायद नारी-धर्म की दृष्टि से अनुचित-उचित कर्म का है। अपने पति मे अनुरक्त होना नारी का धर्म है और यह उसके लिए उचित कर्म है, दूसरे पति से प्रेम करना अनुचित कर्म है, और धन के लिए वार-विलास करना नीच कर्म है। इस प्रकार अर्थ वैठ तो जाता है, परन्तु शब्द मे सम्यक अर्थ-ध्वनन की शक्ति नही हैं। कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (Profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परन्तु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नही है। वस्तुत नायिका के ये तीन भेद नायक-नायिका के

सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले हैं। यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात् लोक-वेद-सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वकीया है; यदि अवैध अर्थात् लोक-वेद-विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है, और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान-प्रदान न होकर व्यावसायिक है तो वह सामान्या है। कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने 'लोकरीति' और दास ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्सदेह ही अधिक सार्थक है। ज्येष्ठा-कनिष्ठा का एक-मात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है, परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है। चौथे वर्ग का आधार माना गया है: वय-भेद। यहाँ वय का आधार तो एक प्रकार से स्वतः स्पष्ट ही है, परन्तु वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्त्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नहीं मिलेगा। आगे धीरादि भेद है जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या-कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर बहुत-कुछ सयोग और परिस्थिति पर आश्रित है और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा मे भी पहुँच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और अनावश्यक है दशानुसार विभाजन, जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति दुःखिता, मानवती और गर्विता नायिकाओ को लिया गया है। इनमें से अन्य-सुरति-दुःखिता, और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि मे पूर्णत अतर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन-पतिका मे सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते हैं जो सर्वथा मौलिक एव सर्वमान्य हैं—एक मे अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीन-भर्तृका आदि अष्ट नायिकाओ का वर्णन आता है, दूसरे मे प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनो वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे हैं और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यों-के-त्यो स्वीकृत कर लिए है। स्वाधीनभर्तृका आदि का आधार प्राय. 'काल' माना-जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर संकेत किया है, और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव मे ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा के आश्रित है। यदि नायक पूर्णत अपने आधीन है तो सर्वथा सुखी और संतुष्टमना नायिका 'स्वाधीन-पतिका' कहाती है, अन्य स्त्री के ससर्ग-चिह्नों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाली नायिका 'खंडिता' कहाती है, जो नायक से मिलने के लिए सकेत स्थान पर जाय ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते है; जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त करदे फिर पीछे से पछताय उसे 'कलहातरिता', और सकेत कर-के भी प्रिय जिसके पास न जाय उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते है। अनेक

कार्यों में फँसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम-पीडिता नायिका 'प्रोषित-पतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालकारो मे सुसज्जित हो रही हो, उसे 'वासकसज्जा' और आने का निश्चय करके भी दैववश जिसका प्रिय न आ सके वह खिन्नमना नायिका 'विरहोत्कंठिता' कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट करके कहे तो, सामयिक स्थिति अर्थात् नायिका की तत्कालीन मनोदशा—का है। थोड़ा वक्र करके कुछ लोगो ने इसके पूर्वापरक्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त आठ भेदो मे क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न संगत; क्योंकि स्पष्टतः ही ये अवस्थाएँ पूर्वापर नही है। यह भ्रान्ति वास्तव मे 'काल' शब्द के प्रयोग से फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनो मे गुण ही अधिक प्रचलित है, परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति (स्वभाव) ही अधिक सगत बैठेगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका-भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खडा हुआ है उसमे अनेक प्रकार के समान-असमान अवान्तर आधारो की ससृष्टि है—जो कही सामाजिक सम्बन्ध, कही स्वभाव, कही मनोदशा, कहीं काम-प्रवृत्ति, कही आभ्यतर और शारीरिक प्रकृति, कही केवल नायक के प्रेम की न्यूनता-अधिकता पर ही आश्रित है। इनमें कुछ आधार मूलगत और कुछ नितान्त स्थूल है। इतना अवश्य है कि इन सभी मे नायक-नायिका की पारस्परिक रति-भावना मूल सूत्र के रूप मे अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण में चरित्र-चित्रण एवं 'शील-निरूपण' का अत्यन्त स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है, व्यक्तिगत नहीं। यह वर्गीकरण इस सिद्धान्त को लेकर चला है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है, एक विशेष परिस्थिति मे वह एक विशेष रूप में ही प्रतिक्रिया करेगी। वास्तव मे यह सिद्धान्त आत्यन्तिक रूप में चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यत. अधिक व्यवहार्य नही है, क्योकि प्रकृति की एकता प्राय दुर्लभ है। ऊपर से एक दिखने वाली परिस्थितियो मे कितनी आन्तरिक गुत्थियाँ है, यह हम साधारणत नही जान पाते। इसकी तह मे जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इसके परिणाम-स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए है। इसीलिए मानव-मन का वर्गगत विश्लेषण साधारणत सफल नहीं होना, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहार्य होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन मे एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के बाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वत. परिमित भी मानकर चला है। काम-वृत्ति अपने रूप मे स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार-तल पर उस पर अन्य प्रवृत्तियो की भी क्रिया-

: ३ :

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास—हिन्दी मे रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण-ग्रन्थो के लिए होता है : जिन ग्रन्थो मे काव्य के विभिन्न अगो का लक्षण-उदाहरण-सहित विवेचन होता है उन्हे रीति-ग्रन्थ कहते है; और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर, जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते है। संस्कृत मे इसे अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्रायः कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेप अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, रीति-सम्प्रदाय रचना अथवा बाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मानकर चला है। संभव है आरम्भ मे हिन्दी मे रीति शब्द का मूल सकेत रीति-सम्प्रदाय से ही लिया गया हो; परन्तु वास्तव मे यहाँ इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ मे रचना-सम्बन्धी नियमो का विवेचन हो वह रीति-ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो, वह रीति-काव्य है। स्वभावतः इस काव्य मे वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की, प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति-शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है, और यह नया नही है। रीति-काल के अनेक कवियो ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलंकार-रीति, कविता-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ मे किया है :

१. अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।[1]

२. काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।[2]

३. कवित-रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चित लाय।[3]

---

१ देव—'शब्द-रसायन'

२ दास—'काव्यनिर्णय'

३ प्रतापसाहि—'व्यंग्यार्थ-कौमुदी'

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने 'पद्माभरण' मे अलकार-विवेचन को अलंकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य स्पष्टतः है प्रकार-प्रणाली का। रीति काल के उत्तरार्ध मे यह शब्द काफ़ी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियो के समय मे यह शब्द इस रूप मे सर्वसाधारण मे स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्रबन्धुओ ने इस युग का नाम 'अलकृत-काल' रखते हुए भी इन कवियो के ग्रन्थो को रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन ही कहा है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' मे एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बडी स्वच्छ व्याख्या की गई है. "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रन्थो का भी प्रचार बढा और आचार्यता की वृद्धि हुई।''' आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते है, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयो के वर्णनो मे अमुक प्रकार के कथन उपयोगी है और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थो से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनो वाले ग्रन्थो के सहायक-मात्र है, न कि उनके स्थानापन्न।" कहने का तात्पर्य यह है कि 'रीति' शब्द, जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, शुक्ल जी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी मे प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्ल जी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की। शब्द स्वय इतना सर्व-परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नही हुई। फिर भी शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। उनसे पूर्व 'रीति' शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नही था। ऐसे लक्षण-ग्रन्थों के लिए भी जिनमे रीति-कथन तो नही है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से है, 'रीति' संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने कुछ अंशो मे वामन के रीति शब्द का अर्थ-सकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान मे, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति-कवि नही है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्ल जी के उपरान्त कुछ आलोचको ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलकार-काल या शृगार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी मे उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलत. आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एव इतिहासकार केशव, बिहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य-विशेष को, जिसमे रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमो का बन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत में रीति-ग्रन्थो के प्रणेता प्रायः कवि नही थे—आचार्य ही थे; जो कविता न करके सिद्धातों का खडन·

मंडन और प्रतिपादन करते थे। भरत, वामन, रुद्रट, ध्वनिकार, अभिनव, कुंतक, मम्मट आदि ने तो काव्य-रचना ही नहीं की — सूत्र, कारिका, वृत्ति आदि के द्वारा सैद्धान्तिक विवेचन-मात्र किया है। दण्डी, राजशेखर आदि, जो कवि भी थे—उन्होने भी अपने दोनो रूपों को पृथक् ही रखा है। परन्तु फिर भी संस्कृत में एक परम्परा मिलती अवश्य है जिसमें कविता और आचार्यत्व दोनो रूपो का विभिन्न अनुपातों से सम्मिश्रण हुआ है—उदाहरण के लिए दण्डी, भानुदत्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने गद्य में विवेचन अवश्य किया है परन्तु उदाहरण सभी अपने दिये है; इसके अतिरिक्त 'कुवलयानन्द', 'एकावली', 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' आदि के रचयिताओं ने तो लक्षण-निरूपणों के समान ही उदाहरणों को भी गौरव दिया है; क्योकि ये उदाहरण उनके आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में लिखे होने के कारण स्वतन्त्र महत्त्व रखते है। उधर 'चन्द्रालोक' में जयदेव ने लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द मे देकर गद्य का बहिष्कार कर दिया है। इस प्रकार शताब्दियों तक प्रौढ़ खंडन-मडन और व्यापक विवेचन हो चुकने के पश्चात् संस्कृत साहित्य-शास्त्र के उत्तरार्द्ध मे अपने-अपने आश्रयदाताओ अथवा तत्कालीन रसिक नागरिकों को साधारण काव्य-शिक्षा देने के निमित्त लघुतर प्रतिभा के कवि और रसज्ञ पण्डितों मे रीति-ग्रन्थ रचने की परिपाटी चल पड़ी थी। इनमे विवेचन और खंडन-मडन को विशेष महत्त्व नही दिया जाता था—सक्षिप्त लक्षण भर दे दिए जाते थे। परन्तु उदाहरण, जो कहीं उद्धृत और कही-कही स्वरचित भी होते थे, अत्यन्त सरल और मधुर रखे जाते थे। इन दिनो शृंगार रस तो अत्यधिक लोकप्रिय हो ही गया था, अतः नायिका-भेद का भी समावेश प्रायः सभी मे किया जाने लगा था। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्य-शास्त्र के पूर्वार्द्ध का प्रौढ सैद्धान्तिक विवेचन, जिसकी कि बार-बार शुक्ल जी ने दुहाई दी है, इस समय तक प्रायः समाप्त हो चुका था। पण्डितराज जगन्नाथ जैसे आचार्य वास्तव में अपवाद थे। प्राकृत और अपभ्रंश का जो साहित्य आज प्राप्य है उससे स्पष्ट पता चलता है कि उसमे भी यही पिछली परिपाटी चली, जो आलोचना की अपेक्षा काव्य को अधिक महत्त्व देती थी—हिन्दी का रीति-काव्य इसी का सीधा विकास है। इसी कारण उसमे आचार्यत्व और कविता का सम्मिलन है।

रीति-काव्य की प्रेरणा और स्वरूप—रीति-कविता राजाओ और रईसो के आश्रय मे पली है—यह एक स्वतः प्रमाणित सत्य है—अतएव उसकी अन्तःप्रेरणा और स्वरूप को कवियों और उनके आश्रयदाता दोनो के सम्बन्ध से ही समझा जा सकता है।

इस युग के इतिहास से स्पष्ट है कि रीति-काल के आरम्भ से ही दिल्ली-दरबार का आकर्षण कम होने लग गया था—औरंगजेब के समय मे कलावन्तो के लिए दिल्ली मे

कोई आकर्षण नहीं रह गया था। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त साम्राज्य की शक्ति का और उसके साथ राज-दरबार का विकेन्द्रीकरण बड़े वेग से आरम्भ हो गया था और कवि, चित्रकार, गायक और शिल्पी सभी राजाओं और रईसों के यहाँ आश्रय की खोज में भटकने लग गए थे। ये राजा और रईस अधिकांशतः हिन्दू या हिन्दू रीति-रिवाजों से घुले-मिले हिन्दी-रसिक मुसलमान थे। कुछ स्वनामधन्य महाराजाओं को छोड़कर शेष सभी का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक् अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राज-वंश भी जब इस समय इतने कोलाहल के बीच ऐश-आराम में मस्त था तो इन राजा और रईसों को तो चिन्ता तथा संघर्ष कम और अवकाश एवं विकास का अवसर कहीं अधिक था। अतएव ये लोग, चाहे छोटे पैमाने पर ही सही, राज-दरबार की प्रतिच्छाया थे। शताब्दियों के दासत्व और उत्पीडन के उपरान्त अब वह समय आ गया था जब इनमें आत्म-गौरव की चेतना निःशेष हो चुकी थी—इसीलिए तो अव्यवस्था और उत्क्रान्ति के युग में भी ये लोग चैन की वंशी बजा सकते थे। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामन्तीय रह गया था। परन्तु ऐहिकता और सामन्तवाद की शक्ति भी अब उसमें नहीं थी, केवल भोगवाद ही शेष था।

अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को—विनोद के सभी 'रसालाओं' को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सुवाला, सुराही और प्याला के साथ-साथ 'तानतुक-ताला' और गुणी जनों का सरस काव्य भी सम्मिलित था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी में कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी—वह केवल विनोद का रसाला ही नहीं थी, एक परिष्कृत बौद्धिक आनन्द का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे—उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

रीति-काल के कवि वे व्यक्ति थे जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी—काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न वर्ग के ही सामाजिक होते थे, परन्तु अपनी काव्य-कला के द्वारा ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्य-कला पर ही निर्भर रहता था—इसी कारण कविता इनके लिए मूलतः एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे। अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे, इसका तो निषेध नहीं किया जा सकता—परन्तु इसके आगे बढ़कर

इनको काव्य-व्यवसायी या फ़र्मायशी कवि कहना अन्याय होगा। सारांश यह है कि रीति-काव्य में आत्मा की काँपती हुई आवाज़ आपको नहीं मिलेगी। वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत-कविता नहीं है। वह कलात्मक कविता है—स्वभावतः उसमें वस्तु-तत्त्व[1] असंदिग्ध है। इसलिए उसकी मूल प्रेरणा सीधी आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति में न खोजकर आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति में खोजनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति-कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी; वह अपना साध्य आप थी।

निदान रीति-काव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई मिलती हैं—(१) रीति-निरूपण अथवा आचार्यत्व—और (२) शृङ्गारिकता।

रीति-निरूपण (आचार्यत्व)

रीति-निरूपण की दृष्टि से विचार करने पर इन कवियों में कतिपय स्वतन्त्र अतःप्रवृत्तियाँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। एक वर्ग तो ऐसे कवियों का है जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण किया है और दूसरा उन कवियों का है जिन्होंने रीति-शास्त्र के पण्डित होने पर भी लक्षण-उदाहरण के फेर में न पड़कर केवल लक्ष्य-ग्रन्थों की रचना की है। हम देख चुके हैं कि हिन्दी-रीति-काव्य के पीछे एक विशाल शास्त्रीय आधार था, जिसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा और काव्य के सभी अंगों का सूक्ष्म विवेचन होने के उपरान्त स्थिर सिद्धान्तों की स्थापना हो चुकी थी। मम्मट के समन्वयकारी निरूपण के बाद मूल सिद्धान्त-विषयक उद्‌भावनाएँ प्रायः निःशेष हो गई थीं। अब तो प्रायः सम्पादन और स्पष्टीकरण ही शेष रह गया था। ऐसी दशा में बेचारे हिन्दी कवि क्या मौलिक आविष्कार कर सकते थे, वे तो यदि मूल सिद्धान्तों का उचित विवेचन और स्पष्टीकरण ही कर देते तब भी पर्याप्त होता। परन्तु वे ऐसा भी सुचारु-रूप से न कर पाए। इसके कुछ विशेष कारण थे। एक तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र की जिस उत्तरकालीन परिपाटी का वे अनुकरण कर रहे थे, स्वयं उसमें ही खण्डन-मण्डन और सूक्ष्म विवेचन की प्रणाली नहीं रह गई थी। दूसरे, जिसके लिए इन ग्रन्थों की रचना हो रही थी वह पण्डितों का वर्ग न होकर केवल रसिकों का ही समुदाय था, जिनमें अन्तर्विश्लेषण की सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने का धैर्य नहीं था। जो केवल उतने ही काव्यांग-परिचय की अपेक्षा

[1] Objectivity.

करते थे जितना कि उनकी रसिकता के पोषण के लिए अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त तीसरा प्रमुख कारण गद्य की विवेचना-शैली का अभाव था, और चौथा इनमें से अनेक कवियों का अपरिपक्व शास्त्र-ज्ञान भी कहा जा सकता है। ये कवि जिन उद्देश्यों को सामने रखकर चले थे उनमें सर्वप्रमुख था सरस काव्यों की रचना करना और दूसरा था शौकीनमिज़ाज राजा, रईसों और रसिक नागरिकों को काव्यांगों का साधारण ज्ञान करा देना—इनके अतिरिक्त किसी-किसी का उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन भी था। परन्तु मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन इनका वास्तविक लक्ष्य नहीं था, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए इनकी दृष्टि प्रायः उन्हीं उत्तरकालीन ग्रंथों तक गई जो पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण अथवा उनका सरल परिचय कराने के लिए रचे गए थे, स्वतन्त्र सिद्धान्तों की स्थापना करने वाले मौलिक ग्रन्थों तक यह नहीं पहुँच पाई। 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'रसतरंगिणी' 'रस-मंजरी' या अधिक-से-अधिक 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' से आगे 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'वक्रोक्ति-जीवितम्', 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति', 'काव्यादर्श' अथवा 'काव्यालंकार'—जैसे ग्रन्थों तक ये प्रायः नहीं गए। जिन इने-गिने कवियों ने काव्यांग-विवेचन को अपेक्षाकृत महत्त्व दिया भी है उन्होंने भी इन मूल सिद्धान्तकारों के मतों का उल्लेख और खण्डन-मण्डन प्रायः नहीं किया। केशवदास ने अवश्य दण्डी के 'काव्यादर्श' और केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' का अनुसरण किया है परन्तु विवेचन और प्रतिपादन का उद्देश्य उनका भी बिल्कुल नहीं रहा। रस-निष्पत्ति, रस का स्वरूप, काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, अलंकार-रस का सम्बन्ध एवं इस प्रकार के अन्य सूक्ष्म सिद्धान्तों का तो कुलपति जैसे एकाध आचार्य को छोड़कर किसी ने उल्लेख तक नहीं किया है; इनके अतिरिक्त काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति, गुण-अलंकार-भेद आदि अपेक्षाकृत गौण सिद्धान्तों का भी निरूपण अत्यन्त शिथिल और अस्पष्ट है। नवीन मान-प्रतिष्ठा का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

निरूपण-शैली — हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में प्रायः तीन प्रकार की निरूपण-शैली काम में लाई गई है— १. 'काव्य-प्रकाश' की निरूपण-शैली, जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है; २. 'शृङ्गार-तिलक', 'रस-मंजरी' आदि शृङ्गार-रसमयी नायिका-भेद वाली शैली, जिसमें केवल शृङ्गार के विभिन्न अंगों, विशेषकर नायिका के भेद का ही निरूपण किया गया है; ३. 'चन्द्रालोक' की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली, जिसमें अलंकारों के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिये गए हैं।

पहली श्रेणी में सेनापति का 'काव्य-कल्पद्रुम', चिंतामणि के दो ग्रंथ 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'काव्य-रसायन', सूरति

मिश्र का 'काव्य-सिद्धांत', श्रीपति का 'काव्य-सरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का 'रस-पीयूष-निधि', कुमारमणि भट्ट का 'रसिक-विलास', रतन कवि का 'फतेह-भूषण', करन कवि का 'साहित्यरस', प्रतापसाहि का 'काव्य-विलास' और रसिक गोविन्द का 'रसिक-गोविन्दानन्दघन' सदृश सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ आते हैं। इनके अतिरिक्त 'काव्य-प्रकाश' के कुछ अनुवाद भी हुए। उन्नीसवी शताब्दी मे धनीराम ने जो अनुवाद करना आरम्भ किया था वह तो अधूरा ही रह गया, परन्तु बीसवीं शताब्दी मे सेवक कवि ने स्वतन्त्र रूप से यह कार्य समाप्त कर लिया। 'साहित्य-दर्पण' का भी एक-आध अनुवाद हुआ। शताब्दियों तक विस्तृत रीति-काल में यदि वास्तव में आचार्यत्व के अधिकारी कुछ कवि हुए तो वे उपर्युक्त छह-सात कवि ही थे। इन्होंने रीति-निरूपण को गम्भीरता-पूर्वक ग्रहण किया है। इनके ग्रन्थों मे काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस-भाव, ध्वनि, नायक, अलंकार, पदार्थ-निर्णय (शब्द-शक्ति), रीति, गुण-दोष, पिंगल आदि सभी का यत्किंचित् व्यवस्था के साथ निरूपण किया गया है। पदार्थ-निर्णय, गुण-दोष आदि उपेक्षित प्रसंगों का भी, जिनका निरूपण करने का अन्य कवियो मे न धैर्य था न क्षमता, इन लोगों ने यथोचित समावेश किया है। इनके विवेचन से स्पष्ट है कि इनका ध्यान लक्ष्य की अपेक्षा लक्षण पर अधिक रहा है। इसमे सन्देह नही कि इनके लक्षण कहीं-कही अस्पष्ट और भ्रामक है, और यह भी ठीक है कि केवल इन पर निर्भर रहने वाले जिज्ञासु का रीति-ज्ञान अधूरा और कच्चा ही रहेगा, परन्तु इनका अपना शास्त्र-ज्ञान भी बिलकुल कच्चा या अधूरा था, यह कहना इन मर्मज्ञो के प्रति अन्याय होगा। ये प्रायः सभी कवि रीति-शास्त्र के गम्भीर पण्डित थे, उनका अध्ययन व्यापक था। दुर्भाग्य-वश इनको तर्कोपयोगी गद्य का माध्यम उपलब्ध नही था, इसीलिए ये जटिलताओं को स्पष्ट नही कर पाए। अधिकतर ये लोग शब्द-शक्तियो के विवेचन मे अथवा अलंकारो के पार्थक्य-प्रदर्शन मे ही उलझे है, परन्तु ये विषय तो हैं ही इतने गम्भीर और सूक्ष्म कि संस्कृत के भी अनेक आचार्य इनमे साफ नही उतर पाए। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के विवेचन तो प्राय अवैज्ञानिक है। उनकी विफलताओं को देखना हो तो गुणों और रीतियों के विवेचन को देखिये—उनमे से अनेक उद्भट विद्वान् गुणों और अलंकारो मे अन्तर नही कर पाए, गुणो का पारस्परिक सम्बन्ध और भेद-निरूपण, तथा अलकारो के भेद-प्रभेदो मे सूक्ष्मताएँ तो अन्त तक आचार्यों को उलझाती रही। रस-निष्पत्ति के विषय मे लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के वास्तविक मत क्या थे, इसका स्पष्टीकरण विभिन्न आचार्यो ने इतने विभिन्न रूपो में किया है कि आज गद्य की प्रौढ़ विवेचन-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर भी पडितो में ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका है। अलकारो का गोरखधंधा भी इतना विचित्र है कि वे प्रायः एक-दूसरे की सीमा मे प्रवेश कर जाते है। इसका कारण स्पष्ट है कि भारतीय रीति-शास्त्र की प्रवृत्ति आरम्भ

से ही भेद-प्रभेदो की सूक्ष्म जटिलताओं से क्रीड़ा करने की रही है। बात को इतनी दूर तक घसीटा गया है कि सीमा-व्यतिरेक सर्वथा अनिवार्य हो गया है। ऐसी दशा में यदि हिन्दी के ये आचार्य, जिनको सब-कुछ पद्य मे कहना था, उलझन मे पड गए है तो आश्चर्य ही क्या ? इनका एक दोष स्पष्ट रहा है—वह यह कि ये लोग सर्वथा संस्कृत रीति-ग्रंथो के उपजीवी रहे है—संस्कृत का उन दिनों कुछ ऐसा रौब गालिब था कि हिन्दी का कवि बेचारा उसके ग्रथो को आर्ष-ग्रथ मानता हुआ उनसे स्वतन्त्र होने की हिम्मत ही नहीं कर पाता था। यह बात आज भी बहुत-कुछ वैसे ही रूप में विद्यमान है। आज भी सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और श्री केडिया जैसे पंडित संस्कृत उदाहरणो के अनुवाद ही दे रहे हैं। हिन्दी का व्यापक काव्य-साहित्य, उसकी विकासशील अभिव्यजना-शक्ति; उनके लिए आज भी जैसे निरर्थक ही है। मुख्यतया इसी त्रुटि के कारण इन कवियो के विवेचनो में अस्पष्टता और दुरूहता आदि दोष, जो अनुवाद के अनिवार्य अंग है, आ गए हैं। इनके अतिरिक्त इनके ग्रथों को पढते समय गद्य-वार्तिक की आवश्यकता का अनुभव और भी अधिक क्यो होता है इसका एक अन्य कारण है—वह यह कि इन्होने प्रायः सर्व-परिचित पद्यो को उदाहरण-रूप मे न देकर या तो संस्कृत से अनूदित पद्यों को या फिर अपने रचे हुए नवीन छन्दो को ही दिया है। संस्कृत के मान्य आचार्यों ने अपने परवर्ती और समकालीन साहित्य का विधिवत् पर्यालोचन करने के उपरान्त साहित्य की परिवर्तनशील प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर रीति-निरूपण किया है। उनके उदाहरण प्रायः परिचित है, जिनको ग्रहण करने के लिए पाठक की बुद्धि पहले से ही प्रस्तुत रहती हैं। इसके साथ ही वे कारिका और वृत्ति के सहारे उद्दिष्ट वस्तु का स्पष्टीकरण भी कर देते है जिससे किसी प्रकार का सन्देह नही रह जाता। एक-आध को छोड़कर ये रीतिकालीन आचार्य न तो प्रायः हिन्दी के परिचित उदाहरण ही देते थे और न गद्य-वार्तिकों द्वारा मूल वस्तु का स्पष्टीकरण ही कर पाते थे। परिणाम-स्वरूप उन पर निर्भर पाठक का ज्ञान निर्भ्रान्त नही हो सकता। फिर भी, इस युग के किसी कवि ने ऐसा करने की चेष्टा नही की—एक साथ यह कह देना भी अन्याय होगा। कम-से-कम इस श्रेणी के कवियों में से अधिकांश ने बड़ी ईमानदारी और मनोयोग के साथ अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न किया है। कुलपति, दास और विशेष रूप से रसिकगोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त पाकर गद्य का भी जैसा-तैसा प्रयोग करते हुए अपने मन्तव्य को व्यक्त करने की चेष्टा की है। प्रतापसाहि और रसिकगोविन्द ने मम्मट आदि की परिचित शैली के अनुसरण पर प्राचीन आचार्यो के मतो का भी उल्लेख किया है। प्रतापसाहि ने 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'रस-गगाधर' के लक्षणों को स्वच्छ हिन्दी मे अनूदित करते हुए पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ उद्धृत

किया है, जिससे (अध्येता को सरलता से ही) काव्यांगों का व्यापक ज्ञान हो जाता है। उन्होंने स्वयं ही कहा है :

मत लहि काव्य-प्रकाश को काव्य प्रदीप सँजोइ।
साहित्य-दर्पण चित समुझि, रस गंगाधर सोइ॥
समुझि परै साहित्य को, जातैं परम प्रकास।
सुकवि प्रताप बिचारि चित, कीन्हो काव्य-विलास।[1]

रसिकगोविन्द ने गद्य मे मान्य आचार्यो के उद्धरण देते हुए प्रसगो को स्पष्ट किया है :

"अन्य-ज्ञान-रहित जो आनन्द सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित आनन्द तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड है, यह चेतन। भरत आचार्य सूत्रकर्ता को मत—भाव, विभाव, सचारी भाव के जोग ते रस की सिद्धि। अथ काव्य-प्रकाश को मत—कारण-कारज सहायक है जे लोक मे इन ही को नाट्य मे, काव्य मे विभाव सज्ञा कहा है। अथ टीकाकर्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्व, विशुद्ध अखंड, स्वप्रकाश, आनन्द, चित्, अन्यज्ञान नहिं सग, ब्रह्मास्वाद सहोदर रस।"[2]

श्रीपति और दास को हिन्दी भाषा का स्वच्छ ज्ञान था, अतएव उन्होंने उसकी प्रवृत्ति का ध्यान रखा है। श्रीपति ने केशव के उदाहरण देकर दोषो का स्पष्टीकरण किया है। रसिकगोविन्द ने हिन्दी के ही अनेक प्रसिद्ध कवियो के छंद दिये है। इस प्रकार इन लोगो ने अपने ग्रथों को समयोपयोगी बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है और उसमे इन्हे थोडी-बहुत सफलता भी मिली है, परन्तु वास्तव मे इन बेचारों की सीमाएँ इतनी अधिक थी कि यह सफलता सन्तोषप्रद किसी प्रकार नही कही जा सकती। साराश यह है कि उपर्युक्त कवि मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन न कर सके हो परन्तु वे रीति-निरूपण को उद्देश्य मानकर चले थे, इसमे सदेह नही। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाछित अध्ययन एव काव्य-मर्मज्ञता उनमे थी, परन्तु उनको व्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम नही था। और, दूसरे सस्कृत के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र विवेचन का साहस भी उनमे नही था। इसीलिए उनकी गणना प्रथम श्रेणी के प्रवर्तक आचार्यो मे तो हो ही नहीं सकती, द्वितीय श्रेणी के व्याख्याकारो में भी उनका स्थान काफ़ी नीचा रहेगा। परन्तु प्राचीन हिन्दी-साहित्य मे फिर भी आचार्य इन्ही को माना जा सकता है।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत उन ग्रथो की गणना की जा सकती है जिनका मुख्य वर्ण्य विषय शृगार ही है। इस प्रकार के प्रसिद्ध ग्रथ है—केशव की 'रसिकप्रिया', मति-

१. काव्य-विलास—१
२. रसिकगोविन्दानन्दघन—हस्तलिखित

राम का 'रसराज', सुखदेव मिश्र के 'रस-रत्नाकर' और 'रसार्णव', देव के 'भाव-विलास', 'रस-विलास', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद' आदि, कवीन्द्र का 'रस-चन्द्रोदय', दास का 'रस-निर्णय', तोष का 'सुधानिधि', वेनीप्रवीन का 'नवरस-तरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' इत्यादि। इस पद्धति का आधार रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और विशेषकर भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' तथा 'रसमंजरी' में मिलता है। इन ग्रन्थों में वैसे तो सामान्यतः रस के साथ रस के स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का वर्णन किया गया है परन्तु प्रधानता शृंगार के ही विभिन्न अंगों को दी गई है। और रसों का निरूपण तो केवल ग्रंथ-पूर्ति के लिए कर दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी ने शृंगार को समस्त रसों का राजा तो एक स्वर से माना ही है। यथा

(१) सबको केशवदास हरि, नायक है शृंगार।[1]

(२) (अ) विमल सुद्ध सिंगार-रस, देव अकास अनंत।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिवस न पावत अंत॥

(आ) रसनि-सार सिंगार-रस, प्रेम-सार सिंगार।[2]

(३) स्याम बरण ब्रजराज पति, थाई है रति भाव
ताहि कहत सिंगार हैं, सकल रसन को राव॥[3]

(४) नवरस में सिंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।[4]

केशव-जैसे कुछ कवियों ने अन्य रसों का भी समाहार शृंगार में कुशलता से कर दिखाया है। 'रसिक-प्रिया' में हास्य, अद्भुत आदि मित्र रसों का ही नहीं भयानक, वीभत्स आदि अमित्र रसों का भी उसके अन्तर्गत समाहार कर दिया है। इसी प्रकार देव तथा वेनीप्रवीन ने भी करुण, रौद्र, वीर और भयानक का शृंगार-विमिश्रित वर्णन किया है। वास्तव में ये प्रयत्न कुछ सीमा तक ही सफल हुए हैं और हो सकते हैं। इनकी अपेक्षा मतिराम आदि ने अन्य रसों की सर्वथा उपेक्षा करके अधिक विवेक का परिचय दिया है। मतिराम ने अपने 'रसराज' में केवल शृंगार का ही वर्णन और चित्रण किया है।

इन ग्रन्थों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सम्यक् निरूपण मिलता है। संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका (आलम्बन), सखी, दूती एवं षट्ऋतु (उद्दीपन), और उसके अनुभाव, सात्विक भाव, नायिकाओं के स्वभाव, अलंकार आदि

---

१. केशव—'रसिक-प्रिया'
२. देव—'शब्द-रसायन'
३ वेनीप्रवीन—'नवरस-तरंग'
४ पद्माकर—'जगद्विनोद'

का मनोहर वर्णन विस्तारपूर्वक अत्यन्त मनोनिवेश के साथ किया गया है। वियोग पक्ष में पूर्वानुराग, मान, प्रवास आदि विभिन्न भेद, पूर्वानुराग के श्रवण, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि साधन, मान-मोचन के अनेक उपाय और वियोगजन्य काम-दशाएँ आदि वर्णित और अंकित हैं। संयोग और वियोग में इन कवियों की वृत्ति संयोग में ही अधिक रमी है। और उसमें भी सबसे अधिक महत्व दिया गया है नायिका-भेद को, क्योंकि इन कवियों की रस-वृत्ति का अन्य प्रसंगों की अपेक्षा नारी के रूप-भेदों से ही अधिक सीधा सम्बन्ध था।

नायक-नायिका शृंगार के आलम्बन हैं अतएव उचित क्रम तो यह होना चाहिए कि पहले रस के स्वरूप, भेद, स्थायी आदि का वर्णन करने के उपरान्त विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेद का वर्णन हो। परन्तु इनमे से बहुत से कवियों ने बिना किसी प्रकार के संकोच अथवा दम्भ के नायिका-भेद से ही अपने ग्रन्थो का आरम्भ कर दिया है, और उसका कारण यह दिया है कि सब रसो मे मुख्य है शृगार-रस और शृगार आलम्वित है नायक और नायिका पर, अतएव सबसे पूर्व उसी का वर्णन किया जाता है :

होत नायिका-नायकहिं, आलम्बित शृंगार।
तातें बरणौ नायिका, नायक मति अनुसार॥[1]

× × ×

सुरस नायिका नायकहिं, आलंबित है सोइ॥
तातें प्रथमहिं नायिका, नायक कहत बनाइ।
जुगति जथामति आपनी, सुकविन को सिर नाइ॥[2]

देव ने तो नायिका और नायक को साक्षात् माया और ब्रह्म ही कह दिया है :

"माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप"[3]

वास्तव मे रीतिकाल का सच्चा प्रतिनिधित्व ये ही कवि करते हैं। इनकी पद्धति तर्क-सिद्ध न होकर सर्वथा रस-सिद्ध है। रीतिकाल की 'रीति' और 'शृंगारिकता' इन दोनों मूल प्रवृत्तियों का जितना सुन्दर समन्वय इनके काव्य मे मिलता है, उतना अन्यत्र असम्भव है क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व-प्रदर्शन न होकर केवल कला-साधन ही था जिसमे रसात्मकता और कलात्मकता दोनो का संयोग आप-से-आप हो जाता था। इनका रीति-निरूपण भी जो इतना स्वच्छ और प्रौढ है उसका कारण

---

१. मतिराम—'रसराज'
२. पद्माकर—'जगद्विनोद'
३. 'देवसुधा'

प्रायः इनकी प्रतिभा ही थी, आचार्यत्व का विशिष्ट प्रयत्न-साधन नहीं। स्वभाव से रस-सिद्ध और सामयिक प्रवृत्ति के अनुसार शास्त्रविद् होने के कारण इनको अद्भुत रसज्ञता प्राप्त हो गई थी। शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों का उचित संयोग ही इनकी सफलता का मूल कारण था क्योंकि अन्य कवियों की व्युत्पत्ति और अभ्यास चाहे इनसे बढ़े-चढ़े रहे हों, परन्तु शक्ति में वे सभी उनसे हीनतर थे। स्वभावतः इनको हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान था। संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने प्रायः लक्षणों तक में नहीं किया, उदाहरणों की बात तो दूर रही। वैसे भी इनका ध्यान लक्षण की अपेक्षा लक्ष्य पर ही अधिक था उसी के अनुसार ये अपनी सफलता आँकते थे। यह एक दूसरा कारण है जो इन ग्रन्थों के निरूपण की स्वच्छता के लिए उत्तरदायी है।

तीसरी शैली 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलकार-निरूपण की संक्षिप्त शैली है। इसका आरम्भ तो शायद करनेस के 'श्रुतिभूषण' आदि ग्रन्थों से हुआ हो, परन्तु वास्तविक प्रतिष्ठा इसे महाराज जसवन्तसिंह के 'भाषा-भूषण' से ही प्राप्त हुई। 'भाषा-भूषण' की रचना दोहों की अत्यन्त समस्त पद्धति पर हुई है—जिनमें पहले चरण में अलकार का लक्षण और दूसरे में उदाहरण दिया गया है। इस संक्षिप्त पद्धति के अनुसरण पर हिन्दी में अनेक उपयोगी अलकार-ग्रन्थों का निर्माण हुआ—जिनमें सूरति मिश्र-कृत 'अलकार-माला', रसिक सुमति का 'अलकार-चन्द्रोदय', भूपति का 'कंठाभूषण', शम्भूनाथ मिश्र का 'अलकार-दीपक', ऋषिनाथ-रचित 'अलकार-मणि-मंजरी', बैरीसाल का 'भाषाभरण', नाथ हरिनाथ तथा महाराज रामसिंह के रचे हुए 'अलकार-दर्पण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त तीन प्रसिद्ध अलकार-ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' के तिलक-रूप में लिखे गए—पहला दलपतिराय और वंशीधर का, दूसरा प्रतापसाहि और तीसरा गुलाब कवि का रचा हुआ है। तीनों में सबसे पूर्ण तिलक पहला ही है। शुक्लजी के शब्दों में इस टीका का 'भाषा-भूषण' के साथ वही सम्बन्ध है जो 'कुवलयानन्द' का 'चन्द्रालोक' के साथ। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इन सभी ग्रन्थों में 'चन्द्रालोक' की अत्यन्त संक्षिप्त शैली में अलकार-निरूपण किया गया है। चन्द्रालोककार का उद्देश्य स्पष्टतः अलंकार-शास्त्र को सरल और सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करने का था—उन्होंने किसी प्रकार के खंडन-मंडन, वर्गीकरण, नवीन उद्भावना के पचड़े में न पड़कर, सरलता से कंठस्थ हो जाने वाले छोटे श्लोक-छन्द के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देते हुए अलंकारों का अत्यन्त स्वच्छ निरूपण किया है। इस दृष्टि से वे वास्तव में अलकार-साहित्य के शिक्षक-रूप में हमारे सामने आते हैं। आचार्य का गौरव—जो भामह, दण्डी, रुद्रट, रुय्यक

अथवा मम्मट आदि को भी प्राप्त है, उसके अधिकारी जयदेव आदि नही हो सकते; क्योकि उनका ग्रन्थ अलंकार के विज्ञान का विवेचन न करके उन्हे केवल सुपाठ्य रूप में ही उपस्थित करता है। हिन्दी मे 'भाषा-भूषण' और उसके, अथवा उसके मूल 'चन्द्रालोक' के अनुकरण पर जितने ग्रन्थ रचे गए, सबके विषय मे भी ठीक यही कहा जा सकता है—एक प्रकार से वे तो और भी कम गौरव के अधिकारी है। परन्तु यहाँ हम केवल दृष्टिकोण की बात कर रहे है—इन सभी ग्रन्थों का लक्ष्य स्वीकृत रूप से अलंकार-निरूपण ही है, काव्य-रचना नही। इसीलिए उदाहरणो को अनावश्यक महत्त्व नही दिया गया। वे यदि कही सुन्दर बन पडे है तो रचयिता की कवित्व-शक्ति के ही कारण ऐसा हुआ है। उनको साध्य नही माना गया। इन ग्रन्थो की विवेचन-पद्धति के विषय मे दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि इन सभी मे संक्षिप्त शैली का अनुसरण किया गया है और अधिकतर दोहो का ही प्रयोग है, परन्तु क्रम सबका एक-जैसा नही है। एक श्लोक मे ही लक्षण और उदाहरण देने वाली 'चन्द्रालोक' की शैली का निर्वाह तो 'भाषा-भूषण', 'अलकार-माला', अलंकार-चन्द्रोदय' आदि में मिलता है। यद्यपि पिछले दो ग्रन्थो का विषयाधार 'कुवलयानन्द' ही अधिक हैं, 'चन्द्रालोक' नहीं। इनसे थोड़ा भिन्न बैरीसाल के 'भाषा भरण' और पद्माकर के 'पद्मा-भरण' का क्रम है जिनमे दोनो के अतिरिक्त यत्र-तत्र कुछ और छन्द भी दिए है, साथ ही एक ही छन्द मे लक्षण और उदाहरण देने की पद्धति को भी उतना नही अपनाया गया, क्योकि उपर्युक्त ग्रन्थो की अपेक्षा इनमें उदाहरण-विस्तार थोड़ा अधिक है। वैसे तो लक्षण आदि का आधार इन्होने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' को माना है, परन्तु उदाहरण इनके प्रायः स्वतन्त्र है। इस प्रकार इनमें वर्णन-स्वातंत्र्य अपेक्षा-कृत अधिक है। हरिनाथ के 'अलंकार-दर्पण' का क्रम इन सबसे विचित्र है। उन्होने पहले ८६ दोहों में अलंकारों के लक्षण और उनके बाद ४० छन्दो में उन सभी के उदाहरण दे दिए हैं—अतएव एक छन्द मे उनको कई-कई अलकारों के उदाहरणों का समावेश करना पड़ा है। ऋषिनाथ के 'अलकारमणि-मंजरी' और शम्भुनाथ-कृत 'अलकार-दीपक' मे कवित्त-सवैयो का अनुपात अधिक है। इनके अतिरिक्त शम्भुनाथ मिश्र ने गद्य मे भी वार्तिक लिखकर अपना आशय स्पष्ट किया है। स्वभावतः ये ग्रन्थ उदाहरणो की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ न होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से अधिक स्पष्ट हैं। इसी पद्धति का विकसित रूप हमे दलपति और वंसीधर के 'अलकार-रत्नाकर' मे मिलता है जो अलकार-निरूपण की इस सक्षिप्त शैली का सबसे अधिक उपयोगी और महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना स्वीकृत रूप मे काव्य-चातुर्य प्रदर्शित करने के लिए न होकर, अलकार की शिक्षा देने के उद्देश्य से ही हुई है। इन कवियों का दृष्टिकोण भी वास्तव मे श्रीपति, सूरति मिश्र आदि की भाँति गम्भीर और विवेचनात्मक है।

इन्होंने पहले गद्य द्वारा प्रत्येक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया है और फिर उदाहरण के किस चरण मे अलकार है इसका भी स्पष्ट निर्देश किया है जिसके उपरान्त किसी प्रकार का भ्रम नही रह जाता है। दूसरा गुण इस ग्रन्थ मे यह है कि लेखकों ने उदाहरण केवल अपने ही न देकर केशव, मतिराम, सेनापति, गग, विहारी, देव, दास आदि हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो की रचनाओं मे से दिए हैं, जिससे अलंकार का वस्तु-रूप हृदयंगम करने के लिए विद्यार्थी का मन पहले से ही प्रस्तुत रहता है। सारांश यह है कि ग्रन्थ-कर्ताओ ने हिन्दी रीति-काव्य के पाठकों की वास्तविक कठिनाई का बड़े समुचित रूप से समाधान करते हुए अपने ग्रन्थ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। इसके लगभग पैंतालीस वर्ष बाद (१८३७ मे) एक ऐसे ही व्याख्यान-प्रधान अलंकार-ग्रन्थ का निर्माण उत्तमचन्द भंडारी ने 'अलंकार-आशय' नाम से किया। भंडारी कवि की अपेक्षा व्याख्याता और सहृदय ही अधिक मालूम पड़ते हैं।

उपर्युक्त ग्रथो के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग ऐसे ग्रथों का है जिनका दृष्टिकोण इनके सर्वथा विपरीत है। इसके अन्तर्गत मतिराम की 'ललित-ललाम', भूषण के 'शिवराज-भूषण', रघुनाथ के 'रसिकमोहन', दूलह के 'कविकुल-कण्ठाभरण', दत्त के 'लालित्यलता,' ग्वाल के 'रसिकानन्द' और प्रतापसाहि के 'अलंकार-चिन्तामणि' आदि की गणना की जा सकती है। इनके रचयिता आचार्यत्व अथवा अलकार-निरूपण को प्रधान लक्ष्य बनाकर नही चले। यद्यपि इनका निरूपण—विशेषकर मतिराम और रघुनाथ का—अत्यन्त स्वच्छ है, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होने लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणो को कही अधिक महत्त्व दिया है। भूषण ने तो शायद अपने अनेक छन्दों को स्वतन्त्र रूप मे रचकर फिर उनको रीतिबद्ध किया है। इसीलिए उनके द्वारा अलंकार-निरूपण प्रायः स्पष्ट नही हो पाया। मतिराम और प्रतापसाहि रससिद्ध कवि थे। मतिराम ने भी भूषण की ही तरह अपने लक्षणो को प्रायः आश्रयदाता पर घटाने का प्रयत्न किया है। दूलह और दत्त के ग्रन्थ अपेक्षाकृत संक्षिप्त हैं—परन्तु दूलह के उदाहरणों की प्रौढ़ता और दत्त की चमत्कार-प्रियता उन्हे रीति-शिक्षक की अपेक्षा कवि या कलाकार-रूप मे ही अधिक प्रस्तुत करती है। रघुनाथ और ग्वालकवि की स्थिति अवश्य कुछ मध्यवर्ती-सी है, क्योकि इन दोनों ने जितना उदाहरणो की रचना पर ध्यान दिया है, उतना ही अलंकारों के स्पष्टीकरण का भी सफल प्रयत्न किया है। रघुनाथ ने तो अपने सवैया और कवित्त का सम्पूर्ण कलेवर ही अलकार को उदाहृत करने मे प्रयुक्त किया है—जिसके कारण उनका ग्रन्थ अलंकार के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी बन गया है। उधर ग्वाल ने भी अलंकार की बारीकियो में काफी गहरे जाने की कोशिश की है। फिर भी इनको पहली श्रेणी मे नही गिना जा

सकता; क्योंकि काव्य-चातुरी इनकी दृष्टि से कभी ओझल नही हो पाई। मतिराम और भूषण की भाँति इनकी दृष्टि रस-सर्जना पर तो केन्द्रित नहीं थी, परन्तु चमत्कार-प्रदर्शन पर अवश्य थी, जो इनके लिए अलकारो को उदाहृत करने का साधन-मात्र ही नहीं था—वरन् स्वतंत्र साध्य भी था।

हिन्दी के अलकार-ग्रन्थो मे शब्दालंकार का महत्त्व अर्थालंकार की अपेक्षा अनुपात से भी कम है। 'भाषा-भूषण', 'अलकार-दर्पण', आदि मे तो अनुप्रास को छोड़कर अन्य शब्दालकारो का उल्लेख भी नही है। अनुप्रास-प्रेमी पद्माकर ने अनुप्रास को भी छोड दिया है। परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि इन कवियों की दृष्टि अर्थ-गाम्भीर्य पर अधिक जमने लगी थी। इसका मुख्य कारण वास्तव मे यह है कि इन सभी ग्रन्थो के मूलोद्गम 'चन्द्रालोक' मे भी शब्दालंकारों को उपेक्षा की दृष्टि मे देखा गया है। हिन्दी में चमत्कार-प्रियता किस सामा तक पहुँच गई थी इसके उदाहरण-स्वरूप वे रीति-ग्रन्थ उपस्थित किये जा सकते है जिनमे शब्द-क्रीड़ा के गोरखधन्धे रचे गए है। इनका पथ-प्रदर्शन तो लीलापुरुषोत्तम के 'क्रीडा-रसिक' सूरदास ही अपनी 'साहित्य-लहरी' द्वारा कर गए थे—बाद मे रहमान ने अपने 'यमक-शतक' मे कही श्लेष, कही यमक और कही एकाक्षर का चमत्कार दिखाकर इस परिपाटी को विकसित किया और अन्त मे जगतसिंह ने 'चित्र-मीमांसा' और काशीराज ने 'चित्र-चन्द्रिका' सदृश ग्रन्थों की रचना करके उसे सर्वथा परिपूर्ण बना दिया। वैसे तो केशवदास आदि आचार्यो ने अपने रीति-ग्रन्थों मे चित्र-काव्य का विस्तृत विवेचन किया है परन्तु उनका उद्देश्य काव्य के इस प्रसंग को भी समाविष्ट करके अपने विवेचन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना ही था। चित्र-काव्य को ये लोग निर्विवाद रूप से अधम काव्य मानते थे और उसकी रचना करना प्रतिभा का अपव्यय समझते थे।

अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।

× × ×

चित्र काव्य को जो करत, वायस चाम चबात।[1]

परन्तु इनके विपरीत उपर्युक्त ग्रन्थो के रचयिताओ ने उसको सर्वथा स्वतन्त्र महत्त्व दिया है और शब्द की जितनी खिलवाड सम्भव थी, सभी का हौसला पूरा कर लिया है। सस्कृत में इनका प्रेरक अप्पय दीक्षित का वही 'चित्र-मीमासा' ग्रन्थ कहा जा सकता है जिसकी कि पडितराज ने अपने 'चित्र-मीमासा-खण्डन' मे धज्जियाँ बिखेर दी है।

मौलिक उद्भावनाएँ और आलोचना-शक्ति—रीति-कालीन आचार्यो की

१. देव—'शब्द-रसायन'

शास्त्रीय उद्भावनाओ को लेकर हिन्दी मे शुरू मे काफी गर्मागर्मी हुई है। इन मौलिक उद्भावनाओ की प्रशसा करने वालो को शुक्लजी ने बड़े आड़े हाथो लिया है और अपनी अमोघ शैली मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि ये उद्भावनाएँ वास्तव मे या तो उद्भावनाएँ है ही नही, क्योकि संस्कृत के ग्रन्थों में उनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है, या फिर सर्वथा निरर्थक और अनर्गल है। उन्होने और उनके उपरान्त उनके संकेतों के आधार पर प० कृष्णशकर शुक्ल तथा श्री विश्वनाथप्रसाद आदि ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार अपनी तथाकथित नवीनताओ के लिए केशव दण्डी के 'काव्यादर्श', केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' एवं अमर-रचित 'काव्य-कल्प-लता-वृत्ति' के; देव भानुदत्त-कृत 'रस-मजरी' के; और दास 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि अनेक ग्रथो के ऋणी है। पीछे किये हुए विवेचन से स्पष्ट है कि इस युग मे केवल शृगार-रस और अलंकार-प्रसग का ही विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य के शेष अगो का तो दो-चार आचार्यों ने स्पर्श-मात्र ही किया है। नवीन उद्भावना अथवा परिवर्तन-परिशोधन का प्रयत्न भी स्वभावतः इन्ही दो क्षेत्रो मे हुआ है। अतएव इनकी ही परीक्षा करना उपयुक्त होगा।

पहले शृङ्गार रस को ही लीजिए—रीतिकाल के प्रायः सभी आचार्यों और कवियो ने आग्रह के साथ इसका रसराजत्व घोषित किया है। परन्तु यह कोई नवीन कल्पना नही थी। उनसे शताब्दियो पूर्व 'अग्नि-पुराण', 'शृङ्गार-तिलक' और 'शृङ्गार-प्रकाश' आदि मे शृङ्गार को एक[illegible]मात्र रस अथवा रसराज स्वीकार कर लिया गया था। 'अग्नि-पुराण' मे स्पष्ट लिखा है कि "शृगारी चेत्कविः काव्य जातं रसमय-जगत्।" उसके सम्पादक का सिद्धात है कि आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहकार से अभिमान की, अभिमान से रति की, जिसके कि शृङ्गार, हास्य आदि भिन्न-भिन्न रूप-मात्र हैं। इसी की प्रतिध्वनि हमे भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश' मे मिलती है। उनका मत है कि शृङ्गार, वीर आदि दस रसो का वर्णन जो विद्वान् लोग करते है वह केवल गतानुगतिकता के कारण है। रस केवल एक ही है शृङ्गार; "हमारा अहकार ही प्रतिकूल परिस्थितियो के अभाव मे, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि के द्वारा आनन्द-रूप मे सवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति-ह्रास आदि भाव शृङ्गार से ही उत्पन्न होते हैं। वे स्वय रसत्व को कभी प्राप्त नही होते। वे तो जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणें अग्नि की कांति को बढाती हैं इसी प्रकार, शृङ्गार की शोभा को बढाते है। इसीलिए स्थायी, सचारी आदि का प्रपच मिथ्या है। शृङ्गार ही चतुर्वर्ग का कारण है, वही रस है।"[1]

१. शृगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।

'अग्नि-पुराण', 'शृगार-प्रकाश' आदि का यह विवेचन अत्यत गम्भीर और मनोवैज्ञानिक है, इसका आधार काम-शास्त्र और मीमासा के सूक्ष्म तर्कों से परिपुष्ट है। केशवदास ने इसकी मनोवैज्ञानिक गम्भीरता को न समझते हुए बस सभी रसो को अत्यन्त स्थूल रूप से ठेल-ठालकर शृगार मे अन्तर्भूत कर दिया है। कहने की आवश्यकता नही कि इसमे उनको सफलता नही मिली . उनके रौद्र, वीभत्स, शात आदि मचारी की स्थिति तक भी भली प्रकार नही पहुँच पाये। केशव की दूसरी तथाकथित उद्भावना है शृ गार के दो सामान्य भेद : प्रच्छन्न और प्रकाश, जिसका अनुसरण आगे चलकर वर्ग-भेद के अनन्य प्रेमी देव ने भी किया है। यह विभाजन भी अधिक मूलगत नही है, क्योकि अनुराग का प्रच्छन्न रहना अथवा प्रकाशित होना स्थिति-सयोग पर निर्भर है। इन दोनो अवस्थाओ मे मन की अनुरागी वृत्तियो पर क्या विशेष प्रभाव पडता है, इसका विवेचन तो मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोरजक भी हो सकता है परन्तु स्थूल वर्गीकरण, जो कि केशव और देव ने किया है, न तो विशेष महत्व रखता है और न सदैव सम्भव ही है। उदाहरण के लिए प्रौढा स्वकीया का प्रच्छन्न शृगार पूर्णतः कैसे निभ सकता है? देव ने रस का विस्तार-भेद और भी अधिक किया है। उन्होने रस के—और रस से उनका तात्पर्य रति-जन्य आनन्द से ही है—दो भेद किए है (१) अलौकिक, (२) लौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का होता है—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक। लौकिक रसो मे शात का वर्णन करते हुए भक्ति का अन्तर्भाव भी उन्होने उसी मे कर दिया है और फिर भक्ति के तीन भेद है: प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम। इनका विवेचन देव के प्रसग मे किया जायेगा। यहाँ इतना सकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि यह देव की मौलिक उद्भावना नही है। पहला विभाजन ज्यो का त्यो 'रसतरगिणी' से ले लिया गया है, दूसरे का आधार भक्ति-ग्रथो मे मिलता है। फिर प्रेमाश्रयी भक्ति को शात के अन्तर्गत गिनना भी तो शास्त्र-विरुद्ध एव असगत है। इनके

आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृ गारमेव रसनाद्रसमामनाम. ॥
वीरादभुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटवृक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥
अप्रातिकूलिकतया मनसोमुदादेय संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्तेः रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ॥

—शृगारप्रकाश (राघवन) पृष्ठ ४३०

× × ×

एकोनपचाशद्भावा वीरादयो मिथ्यारसप्रवादाः शृ गार एवैकः चतुर्वर्गैककारणं स रस इति।

—शृगारप्रकाश

अतिरिक्त रस-प्रसग मे देव ने एकाध सगति बैठाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनका मत है कि "लौकिक रस नौ होते है नौ मे तीन मुख्य है—शृगार, वीर और शात। शेष का समाहार इन्ही मे हो जाता है। हास्य और भयानक का शृगार मे, रौद्र और करुण का वीर मे और अद्भुत और वीभत्स का शात मे। फिर इन तीनो मे मुख्य है शृगार।" यह नवीन वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणो की तरह बहुत सगत या आत्यन्तिक नही है। लोक-जीवन मे तथा साहित्य मे रति, उत्साह और शम् ये तीन उदात्त वृत्तियाँ अवश्य है। परन्तु करुणा का महत्त्व भी इनसे कम नही है। वास्तव मे साहित्य मे शात की अपेक्षा करुण का परिपाक अधिक सरल और स्वाभाविक है। आदिकाव्य 'रामायण' करुण रस-प्रधान ही है। इसी प्रकार शान के साथ अद्भुत और वीभत्स का सामजस्य तो ठीक बैठ जाता है, वीर के व्यापक रूप के साथ करुण और रौद्र भी आ जाते है, परन्तु शृगार और भयानक की असगति केवल 'भय विनु होइ न प्रीति' के बल पर कैसे मानी जा सकती है?

भाव का वर्णन हिन्दी-कवियो ने बडी उपेक्षा के साथ, और इसीलिए बहुत-कुछ भ्रामक रूप मे किया है। केशव ने वीभत्स के स्थायी जुगुप्सा के लिए निन्दा शब्द का ही प्रयोग किया—ग्लानि तक तो खैर थी, परन्तु निन्दा तो सर्वथा अशक्त शब्द है। दास ने 'प्रीति' नामक भाव माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का 'प्रेयान्' ही है। देव ने तेतीस सचारियो के अतिरिक्त एक और सचारी 'छल' माना है और 'वितर्क के अवातर भेद कर दिए है: (१) विप्रतिपत्ति, (२) विचार, (३) सशय, (४) अध्यवसाय। परन्तु यह भी 'रस-तरगिणी' का ही अनुवाद है। कामदशाओ मे भी विस्तार-प्रिय देव ने भेदो की शृखला जोड दी है और अभिलाषा, स्मरण, चिंता, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि आदि के अनेक भेद करके रख दिए है। इनमे सबसे अधिक मनोरजक है आठो सात्त्विको के अनुसार स्मरण के भेद—स्वेद, रोमाच, अश्रु आदि सभी का अन्तर्भाव आपने स्मरण मे कर दिया है। एक दूसरे स्थान पर देव ने इन्ही सात्त्विको की गणना सचारियो के अन्तर्गत की है। 'भाव-विलास' मे सचारी भाव दो प्रकार के माने गए है—एक शारीर, दूसरे आतर। शारीर है स्वेद, स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव, और आतर है निर्वेद, ग्लानि आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी। सात्त्विको को व्यभिचारी या सचारी के अन्तर्गत शारीर सज्ञा देकर अन्तर्भूत करना देव की मौलिक सूझ है, ऐसा भ्रम हो सकता है, परन्तु जैसा कि देव ने स्वय स्वीकार किया है, भरत आदि मे भी इस प्रकार का वर्णन है। भरत ने वास्तव मे स्थायी के अतिरिक्त सचारी और सात्त्विको को भाव के अन्तर्गत गिना है, व्यभिचारी के अन्तर्गत नही। बाद के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सात्त्विकों को अनुभाव माना है। किन्तु देव का मूल आधार

यहाँ भी भानुदत्त की 'रस-तरगिणी' ही है। साधारणत इसमे कोई नवीनता नही नजर आती, फिर भी यह व्यवस्था मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत नही है। सात्त्विक भाव भी रस के परिपाक मे शरीर मे सचरण करके स्थायी को पुष्ट करते ही है, इस दृष्टि से उनको व्यभिचारी का 'शारीर' रूप मान लेने मे कोई हर्ज भी नही है। सात्त्विक की स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध सवेदन अर्थात् ऐसे सवेदन की है जिसमे शारीरिक स्पन्दन अधिक से अधिक और मानसिक कम से कम होता है। परन्तु अनुभूति का अश उनमे है अवश्य, इसलिए अनुभाव के साथ उसका सम्बन्ध सचारी से भी मानने मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। इन्ही (भानुदत्त और देव) के अनुसरण पर रसलीन ने भी अपने 'रस-प्रबोध' में व्यभिचारी के दो भेद किए है तन-व्यभिचारी और मन-व्यभिचारी, और सात्त्विको को तन-व्यभिचारी माना है।

दास ने इसी प्रकार हावो की सख्या मे वृद्धि की है—प्रचलित दस हावो मे उन्होने दस और जोड़ दिए है परन्तु उनमे से आठ तो, जैसा कि शुक्ल जी ने निर्देश किया है, 'साहित्य दर्पण' मे वर्णित नायिका के कृति-साध्य अठारह अलकारो मे से अन्तिम आठ अलंकार है। शेष दो, बोधक और हेला भी, उनके अपने नहीं है। उनसे पूर्व केशव ने भी विश्वनाथ के दो 'अगज अलकार' हाव और हेला और एक कृति-साध्य अलकार 'मद' को अपने भेदो मे जोड दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होने एक और हाव माना है : 'बोध'—यह बोध ही दास का बोधक हाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रपच न विशेष मनोवैज्ञानिक ही है और न आत्यन्तिक ही। इस तरह तो साहित्य के भेद-प्रभेदो का कितना ही आडम्बर रचा जा सकता है। वास्तव मे बखेडा खड़ा करते समय यह कवि-आचार्य विश्वनाथ के इस स्पष्ट सिद्धात-वाक्य को भूल गए कि 'एत च त्रयस्त्रिशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्त तदुपलक्षणमित्याह।' अर्थात् ये गिनाये गए भाव इत्यादि उपलक्षण-मात्र हैं, इनका और भी विस्तार हो सकता है।

अब नायिका-भेद को लीजिए। हिन्दी का नायिका-भेद सस्कृत की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षो तक हिन्दी के कवियो ने किया ही क्या? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणो की दृष्टि से ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नही। इस क्षेत्र मे भी इन कवियो ने लक्षण और रीति-विवेचन के लिए संस्कृत के ही ग्रन्थो का आश्रय लिया है। कुछ लोगो का विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढा के अवान्तर-भेद हिन्दी-कवियो की कल्पना की उद्भूति है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये भेद, प्राय सभी, विश्वनाथ तथा भानुदत्त से मिल जाते है। केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने है—१ नव-वधू, २ नवयौवना ३. नवल-अनगा और ४ लज्जा-प्राय-रति (सलज्ज-रति)। इनमे नव-यौवना, नवल-

अनगा और लज्जा-प्राय-रति क्रमश. विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना, प्रथमावतीर्ण-मदन-विकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हे; नव-वधू मुग्धा का सामान्य रूप है। देव मुग्धात्व को वय:सन्धि तक खीच ले गए हैं, और उधर रसलीन ने भेदो के भी भेद कर डाले हे। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति मे भी किया जाता ह : अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना (नवोढा, विश्रब्ध नवोढा)—और ये भेद अधिक नगत भी हैं। हिन्दी के चिन्तामणि, मतिराम, वेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने इन्ही को माना हे। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्भावना नही है—इनका भी आधार सस्कृत का लोकप्रिय ग्रन्थ 'रस मजरी' ही है। हिन्दी-कवियो ने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यो के त्यो भानुदत्त से उद्धृत कर लिये है। इसके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है, और विश्रब्ध नवोढा समधिक-लज्जावती का। केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किए हे—(१) आरूढयोवना (केशव) अथवा रूढ यौवना (देव) (२) प्रादुर्भूत-मनोभवा, (३) प्रगल्भ-वचना, (४) सुरति-विचित्रा। ये भी विश्वनाथ के प्ररूढ-यौवना, प्ररूढस्मरा, ईषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरता के ही नामातर मात्र है। विश्वनाथ का मध्य-व्रीडिता इन्होने छोड दिया है। इसी प्रकार प्रौढा के भी चार अवांतर भेद हे—१ समस्त-रस-कोविदा, २ आक्रमित-नायिका (आक्रात-नायिका—देव) ३. लब्धापति, ४ विचित्र-विभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्त-रस-कोविदा और आक्रात-नायिका तो विश्वनाथ के ही भेद है और विचित्र-विभ्रमा भावोन्नता का रूपातर है। लब्धापति शायद स्वतन्त्र है।[1] रसलीन ने पति-दु खिता नायिकाएं भी कही हैं—जिनमे से कोई बेचारी मूढमति, कोई बाल पति और कोई वृद्ध पति के कारण दु खी है। इनकी मान्यता घोषित करते हुए रसलीन कहते हैं

इन भेदन में जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा, कुलटा हू विषे सो पुनि पायौ जात ॥[1]

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यो ने दो ही वर्णन किए है—ऊढा और अनूढा। हिन्दी मे छह भेद और दृष्टिगत होते है—गुप्ता, विदग्धा, (१. वचन, २. क्रिया), लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुशयना। केशव को छोडकर चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर आदि वाद के सभी कवियों ने इनका व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। परन्तु यह भी 'रस-मंजरी' के भेदो का ही शुद्ध अनुवाद है—'गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा अनुशयना मुदिता प्रभृतीना परकीयायामेवान्तर्भाव ।' दास ने इस क्षेत्र मे भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है—उन्होने परकीया के

---

१ 'रस प्रबोध'

उद्‌बुद्धा और उद्‌वोधिता दो नवीन भेद किये है। उद्‌बुद्धा जिसके हृदय मे प्रीति स्वय उत्पन्न हो ; उद्‌वोधिता, जिसके हृदय मे नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। उद्‌बुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गई है : १. अनुरागिनी २ प्रेमासक्ता। उद्‌वोधिता के तीन भेद है—असाध्या, दु खसाध्या और साध्या (जब कि वह पूर्णत उद्‌वोधिता हो जाती है)। रसलीन ने इस विस्तार को और भी वढाया है—उन्होने असाध्या, दु.खसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किये है। ये भेद शास्त्रीय दृष्टि से विशेप स्वतत्र महत्त्व न रखते हुए भी कम-से-कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते है ; और साथ ही इन कवियो के आलोचनात्मक पर्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते है। परन्तु दास का महत्त्व भेद-विस्तार के लिए इतना नही है जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होने काफी स्वच्छ रीति से नायिका-भेद की असगतियो को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होने गर्विता के विभिन्न भेदो को स्वतन्त्र न मानकर स्वाधीनपतिका के अतर्गत, धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्य-सभोग-दु खिता को उत्कण्ठिता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होने देव से सकेत ग्रहण करके रक्षिता (रखैल) आदि की भी स्वकीया के अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभास से मुक्ति पा ली है। सस्कृत मे और हिन्दी मे भी सामान्या का साधारणत एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नही हुई—और उन्होने अपने समय की 'सामान्याओं' की गतिविधि का निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिये—१ स्वतन्त्र, २ जननी-अधीना, ३ नियमिता और ४. प्रेम-दु खिता।

अवस्था के अनुसार सस्कृत मे भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएँ कही गई है; हिन्दी मे प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका, ये दो भेद और मिलते है। इनमे प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की 'रस-मजरी' मे वर्णित प्रोत्स्यत्पतिका है जिसका उन्होने प्राचीनो के अनुसार स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है, "प्राचीनलेखनादग्निमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसी प्रोत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति।" उन्होने स्पष्ट लिखा है कि इसका अतर्भाव खडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा आदि मे नही किया जा सकता ; अतएव इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचार मे ऐसी ही युक्ति आगतपतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोषितपतिका और आगतपतिका के संयोग से अर्थात् पति के गमनागमन के आश्रित देव ने गतागतपतिका (गमनागौन) नायिका की भी कल्पना कर ली है। वास्तव मे नायिका की यह मन स्थिति है तो अत्यन्त मार्मिक—विहारी ने दो-एक दोहो मे इसका अत्यन्त सुन्दर अकन भी किया है, परन्तु यहाँ दो आपत्तियाँ हो सकती है एक तो यह

अवस्था इतनी स्थायी नहीं है कि इसके आधार पर एक स्वतंत्र भेद की कल्पना की जा सके। दूसरे, यह उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं—पति-गमन और पति-आगमन—का संयोग ही तो है। थोड़े अन्तर से ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, उसकी स्थिति में भी एक विशेष भाव-सौन्दर्य वर्तमान रहता है। पर इस विस्तार का कहीं अन्त भी होगा या नहीं। इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जायेंगे।

फिर भी यह विस्तार रुका थोड़े ही, भाव-शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करके अन्य शास्त्रों में भी इसने प्रवेश कर ही लिया। काम-शास्त्र में दिये हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने विस्तार तो नहीं किया, परन्तु संकेत अवश्य दे दिया है। उसी को केशव और उनके उपरांत देव आदि ने लक्षण और उदाहरणों से परिपुष्ट करके हमारे सामने रख दिया। चिन्तामणि ने अंशानुसार तीन भेद और दिए हैं— दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य; परन्तु ये भी 'रस-मंजरी' से अनूदित हैं। देव केवल जाति और अंग-भेद से ही संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने गुण-भेद, प्रकृति-भेद, देश-भेद न जाने कितने भेद और कर डाले हैं। परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन हैं और न महत्त्वपूर्ण। देव ने भी इनका नियोजन-मात्र ही किया है, सृष्टि नहीं; क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के संकेत तो साहित्य-ग्रन्थों में ही मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए, देश-भेद की ओर मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' के चतुर्थ उल्लास में संकेत किया है :

"तत्रापि देशकालावस्थादिभेदाः'"', उधर प्रकृति, गुण, सत्त्व इत्यादि के लिए भी काम-शास्त्र, वैद्यक आदि में प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

रीति-काल का दूसरा मुख्य वर्ण्य विषय है अलंकार। इस युग में नायिका-भेद के बाद सबसे अधिक ग्रन्थ अलंकारों पर मिलते हैं। इस क्षेत्र में भी सबसे पहले केशव ने ही चमत्कार दिखाया है। उन्होंने अलंकारों का, सामान्य और विशेष, दो भेदों में विभाजन किया है, जो हिन्दी-पाठक के लिए एक नवीन योजना अवश्य है, परन्तु यह विभाजन वास्तव में संस्कृत के पूर्व-ध्वनि-काल की विचारधारा पर आश्रित है—जब कि भामह, दंडी, वामन आदि समस्त काव्य-सौंदर्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे; जब अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म नहीं थे, स्थिर शोभाकारक धर्म थे। दंडी ने अलंकारों को काव्य को ही शोभित करने वाले धर्म कहा है, विश्वनाथ आदि की तरह शोभा की वृद्धि करने वाले अस्थिर धर्म नहीं कहा। अतएव उनकी दृष्टि में रस, रीति, गुण आदि काव्य के समस्त अंग, जिनसे उसके सौंदर्य की सृष्टि होती है, अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। इसी परम्परा के अनुसरण पर केशव ने सभी कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध बातों को अलंकार मानकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य से सम्बद्ध, और विशेष अर्थात् वर्णन-शैली से सम्बद्ध, दो भेद कर दिए हैं। जैसा कि आचार्य शुक्ल और उनके उपरांत पंडित

कृष्णशंकर शुक्ल ने विस्तारपूर्वक दिखाया है, केशव ने अपना सभी विवेचन संस्कृत-ग्रंथो से लिया है। सामान्य अलकारो का वर्णन सस्कृत के उत्तर काल मे रचे हुए दो कवि-शिक्षा-ग्रन्थो से—अमर की 'काव्य-कल्पलता-वृत्ति' तथा केशव मिश्र के 'अलकार-शेखर' से अनूदित किया गया है, और विशेप अलंकारो का वर्णन दडी के 'काव्यादर्श' पर आश्रित है। केशव के भेद, लक्षण आदि ही नही, अनेक उदाहरण तक दंडी से लिये गए है। उनके द्वारा दिये गए उपमा के विभिन्न भेदो मे से कुछ तो दडी से ज्यो-के-त्यो ले लिये गए है, कुछ नामान्तर करके रख दिए गए हैं। विपरीतोपमा आदि एक-आध भेद, जो उनकी अपनी कल्पना है, उपमा ही नही वन पाए है। यही बात आक्षेप, दीपक और हेतु के भेदों के विषय मे कही जा सकती है। अर्थान्तिरन्यास के भेद दडी से भिन्न है, परन्तु उनमे प्राय अलंकार-तत्त्व ही नहीं आ पाया। कही-कही ऐसा भी हुआ है कि दडी का वास्तविक आशय न समझ सकने के कारण ही केशव-कृत उपभेदो मे नवीनता दिखलाई पडने लगी है। इनके अतिरिक्त उन्होने एक अलकार और माना है गणना, जिसमे एक से लेकर दस तक सख्या वाली वस्तुएँ गिनाई है। यह वास्तव मे विशेप अलकार न होकर उनके सामान्य, अर्थात् वर्ण्य विषय से सम्बद्ध, अलंकारों मे ही आता है। इसका भी आधार अमर और केशव मिश्र के ग्रन्थ ही है।

भूपण ने काफी गडवड करने पर भी दो नये अलकार दिये हैं—सामान्य-विशेप और भाविक-छवि। इनमे सामान्य-विशेप तो, (जिसमे कि विशेप के द्वारा सामान्य का वोध कराया जाता है,) निश्चय ही अप्रस्तुत-प्रशसा का 'विशेप-निवधना' रूप-मात्र है। भाविक-छवि भाविक का रूपांतर है जिसमे कालगत दूरी की जगह स्थानगत दूरी को आधार माना गया है। फिर भी भाविक-छवि की उद्भावना मे यत्किंचित् स्वातन्त्र्य मानना और उसी के अनुपात से भूपण को भी उसका श्रेय देना उचित होगा, क्योकि शुक्ल जी और उनके अनुयायियो की यह युक्ति कि रीतिकाल के कवियो की उद्भावना अमुक भाव अथवा अमुक अलकार का रूपातर है, सर्वत्र बहुत सगत नही हे। रूपांतर की वात की जायगी तो सस्कृत-शास्त्रो मे दिये हुए काव्यांगो के अनेक भेद निरर्थक सिद्ध हो जायँगे, अलकारो में ही अनेक प्रधान अलकार ऐसे हे जिनको रूपातर कहकर अन्य अलकारो मे अन्तर्भूत किया जा सकता है।

देव ने अलकार-निरूपण बहुत ही चलते ढग पर किया है। उन्होने नाम और लक्षण प्राय: केशव के ही अनुकरण पर दे दिये है, इसीलिए दो-एक नाम सस्कृत से भिन्न मालूम पडते है। उदाहरण के लिए, इनका सकीर्ण तो सकर और ससृष्टि दोनो का स्थूल रूप है और सुक्रमोक्ति 'क्रम' या 'यथासख्य' से भिन्न नही है। कुछ लोग नाम-वैभिन्न्य देखकर इनको नवीन उद्भावना ही मान वैठे है। इस प्रसग मे भी जो कुछ थोडा-वहुत कार्य है, वह दास ने ही किया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित वीप्सा

और सिंहावलोकन चाहे कोई महत्त्वपूर्ण एवं सर्वथा नवीन अलंकार न हों—सिंहावलोकन, जिसका उल्लेख चित्र-काव्य के अन्तर्गत देव ने भी किया है, न्याय से लिया गया है, वीप्सा व्याकरण से—परन्तु वे इस बात का परिचय अवश्य देते हैं कि दास को भाषा की प्रकृति की पहचान थी और साथ ही उनमें स्वतन्त्र आलोचना की शक्ति अवश्य थी। वास्तव में कहीं-कहीं छन्द का सौन्दर्य बहुत-कुछ वीप्सा आदि पर ही आश्रित रहता है उदाहरण-स्वरूप देव का प्रसिद्ध पद 'रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि-हँसि उठै'—पेश किया जा सकता है। दास की व्यावहारिक आलोचन-प्रतिभा का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने शब्दालंकारों को गुणों के आश्रित मानकर उनका साथ-साथ वर्णन किया है। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठभूमि से स्पष्ट है, संस्कृत में गुणों की परिभाषा और सैद्धान्तिक रूप चाहे कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो, परन्तु जहाँ उनके व्यावहारिक रूप का प्रश्न आता है, वहाँ उनका अस्तित्व वर्ण-योजना से सर्वथा पृथक् करना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए प्राचीन आचार्यों के निषेध की उपेक्षा करके भी जगन्नाथ ने उनको वर्णों के आश्रित भी मान लिया है। दास ने भी शायद इसी उलझन को दूर करने के लिए गुणों को रस का सहज धर्म मानते हुए भी उनको शब्दालंकार से सम्बद्ध माना है। इसके अतिरिक्त एक लेखक ने उनके दो अलंकारों के योग की कल्पना को भी, जिसके द्वारा उन्होंने अतिशयोक्ति के कुछ नवीन भेदों की सृष्टि की है, मिश्रालंकार मानकर बहुत-कुछ महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ये मिश्रालंकार संकर से भिन्न हैं, क्योंकि संकर में केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार का योग रहता है, पर मिश्रालंकार में दो अर्थालंकारों का ही योग होता है। परन्तु भला इस भयंकर भ्रान्ति पर आश्रित उनकी प्रशंसा का क्या महत्त्व हो सकता है? वास्तव में ये मिश्रालंकार मम्मट द्वारा वर्णित संकर के उस रूप में आ जाते हैं जिसमें अर्थालंकार अंगांगी-भाव से संयुक्त रहते हैं—उनको स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता।

अलंकार-क्षेत्र में होने वाली वास्तविक अथवा तथाकथित उद्भावनाओं की सूची लगभग यहीं समाप्त हो जाती है। बाद में एक-आध लेखक ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सर्वथा हास्यास्पद भेद कर डाले हैं, परन्तु अधिकांश ने पाठ्य-ग्रन्थों की रचना ही अपना मूल उद्देश्य माना है। अतएव उन्होंने नवीन भेद-प्रभेदों के पचड़े में न पड़कर परिपाटी-भुक्त प्रचलित अलंकारों का ही निरूपण किया है। बहुत-से अप्रचलित स्वतन्त्र अलंकारों को भी उन्होंने काट-छाँट दिया है।

इस द्रौपदी के चीर को अब यहीं समाप्त कर दिया जाय। हमारे पास पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई है जिसके आधार पर उपर्युक्त उद्भावनाओं की परीक्षा करते हुए, अब हम रीतिकालीन आचार्यों की आलोचन-प्रतिभा का मूल्य आँक सकते हैं। जैसा

कि ऊपर के विवरण से सिद्ध है इनके द्वारा वास्तव मे जो कुछ नवीन उद्भावनाएँ हुई है वे प्राय: महत्त्वहीन ही है। हिन्दी के इन समीक्षक-कवियो ने हमारे रीति-विवेचन मे कोई गम्भीर मौलिक योग नही दिया। इसका कारण स्पष्ट है। सस्कृत का रीति-शास्त्र अठारहवी शताब्दी तक इतना व्यापक और पूर्ण हो चुका था कि उसका, कम-से-कम, विस्तार अब सम्भव नही था। उत्तरकालीन सस्कृत के आचार्य भी पिष्टपेषण करते हुए कवि-शिक्षा के सरल ग्रथ ही तैयार कर पाए थे। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अब किसी प्रकार का मौलिक विवेचन ही नही हो सकता था। हम देख चुके है कि सस्कृत मे कवि के व्यक्तित्व के अनुसार काव्य की प्रवृत्तियो का विश्लेषण सर्वथा उपेक्षित रहा है। उसको लिया जा सकता था, और कुछ नही तो कम-से-कम बरसाती नदी की तरह फैले हुए, इस सिद्धान्त-विस्तार की व्यवस्था ही हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हिंदी के समीक्षको पर तो एक और गुरुतर दायित्व था हिन्दी-भाषा तथा हिन्दी-साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करना। उदाहरण के लिए, अलकार के क्षेत्र मे यह बहुत आवश्यक था कि उचित वर्गीकरण करके उनमे काट-छाँट कर दी जाती और कम-से-कम उन अलकारो को, जो वर्णन-शैली से सम्बन्ध न रखकर अलकार-विषय से सम्बन्ध रखते है, हटा दिया जाता। परन्तु ये लोग वास्तविक रूप मे आलोचक नही थे, इनका रीति-निरूपण भी वास्तविक आलोचन न होकर आलोचनाभास ही कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होने अपने दायित्व को गभीरतापूर्वक नही ग्रहण किया। सस्कृत के पतन-काल की वर्णनात्मक परिपाटी को अनुकूल पाकर उसका अनुसरण करना ही इन्हे सुगम प्रतीत हुआ। परिणामत ये बेचारे उचित व्यवस्था भी नही कर पाए, मौलिक उद्भावनाएँ करना तो दूर की बात थी। व्यवस्था की दृष्टि से श्रीपति, और उनसे अधिक दास का ही थोड़ा-बहुत आभार माना जा सकता है—दास ने एक ओर समान अलकारो के वर्ग बनाने का स्थूल प्रयत्न किया है और नायिका आदि के विवरण मे समयानुकूल थोड़ा सशोधन किया है, तो दूसरी ओर भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ अलकारो की उद्भावना तथा तुक का सर्वथा मौलिक विवेचन भी किया है। इनके अतिरिक्त थोड़े-बहुत गौरव के पात्र है वे आचार्य जिन्होने काव्य के सर्वांग-विवेचन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका मौलिक योग कोई नही है, क्योकि इन्होने प्राय: 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि का अनुवाद ही किया है। फिर भी कम-से-कम इनका साहित्य-ज्ञान गम्भीर अवश्य था और हिन्दी मे सस्कृत की गम्भीर विवेचन-परम्परा को अवतरित करने के लिए हमे इनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। ये आचार्य है कुलपति, श्रीपति, दास, सोमनाथ, प्रतापसाहि और रसिकगोविन्द। केवल शृगार के क्षेत्र मे यह श्रेय मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकर आदि

को दिया जा सकता है—और केवल अलंकार के क्षेत्र में जसवन्तसिंह, मतिराम, दलपतिराय, वंसीधर, रघुनाथ-सदृश कवियों को। इन सभी की चिन्तन-पद्धति इतनी स्वच्छ और विवेक-संगत थी कि इन्होंने किसी प्रकार की मौलिकता के चक्कर में न पड़ते हुए सरल और स्वच्छ निरूपण तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा। इसीलिए तो इनके ग्रन्थ अपने विषय का ज्ञान कराने में हिन्दी-पाठकों के लिए इतने उपयोगी सिद्ध हो सके। मौलिक विस्तार की सबसे अधिक आकांक्षा थी केशव और उनसे भी अधिक उनके अनुयायी देव को। परन्तु वास्तव में इन दोनों का पाण्डित्य विस्तृत होते हुए भी, चिन्ताधारा बहुत सुलझी हुई नहीं थी। केशव की भ्रान्तियाँ उनकी उलझी विचारधारा का अतवर्य प्रमाण हैं। देव की विस्तार-प्रियता की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, परन्तु विस्तार स्वयं अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके पीछे यदि प्रौढ़ तर्क का आधार और अनिवार्यता का आग्रह नहीं है, तो वह एक वाग्जाल-मात्र रह जाता है। देव की तबीयत इतनी ज्यादा मीजान-पसन्द थी कि वे अक्सर विवेक और सुरुचि तक को ताक में रख देते थे। वात, पित्त कफ, प्रकृति और नाग, नर आदि के अंशों पर आश्रित नायिकाओं का वर्णन हमारे कथन की पुष्टि करेगा। देव काव्य के सूक्ष्म-मर्मी कवि थे। रस के मूल तत्त्व की थाह उन्होंने पा ली थी, इसमें संदेह नहीं; इसके अतिरिक्त उनकी एक-आध संगति भी ठीक बैठी है। परन्तु यह व्यक्ति कुछ अतिवादी था, इसीलिए अपनी असाधारण प्रतिभा का उचित उपयोग न कर पाया। केशव को यह गौरव भी नहीं दिया जा सकता, उनकी मर्मज्ञता सीमित थी। वे काव्य की सूक्ष्म-तरल वृत्तियों को नहीं पकड़ पाते थे, अतएव उनका महत्त्व वैयक्तिक से अधिक ऐतिहासिक ही माना जायगा।

साराश यह है कि इस युग में काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गम्भीर नहीं रह गई थी, लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे—इसलिए उनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तरकालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण संभव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।

काव्य-सिद्धांत और सम्प्रदाय—संस्कृत में काव्य के पाँच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थे रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति, इनमें सर्वमान्य हुआ ध्वनि-सम्प्रदाय। रीति और वक्रोक्ति तो अधिक जीवित ही न रह सके, अलंकार का भी तिरस्कार हुआ, परन्तु उसका अस्तित्व अन्त तक बना रहा। बाद में यद्यपि अभिनव और मम्मट के द्वारा रस-ध्वनि का एकीकरण सा ही हो गया था, परन्तु फिर भी इन दोनों का थोड़ा-सा मौलिक अन्तर अवश्य मानना पड़ेगा। ध्वनि में बौद्धिक तत्त्व और रस में

ऐन्द्रिय तत्त्व की अपेक्षाकृत प्रधानता अनिवार्यत. निहित है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने ध्वनि की महत्ता स्वीकृत करते हुए भी शुद्ध रस को ही काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार हिन्दी के रीति-कवियो के सामने तीन काव्य-सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलंकार, इन तीनो का ही अनुसरण उन्होने किया। हम देख चुके है कि रीतिकारा के वे आचार्य, जिन्होने सर्वांग विवेचन किया है, प्राय मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि जिनकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक अधिक थी, स्पष्टत मम्मट की भाँति ध्वनि अथवा रस-ध्वनिवादी थे। उनके काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धान्त दोनो ही इसके प्रमाण है। कुलपति ने स्पष्ट ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।
गुन-गुन, भूषन भूषनै, दूषन दूषन देह॥[१]

दास ने यद्यपि आरम्भ मे रस को कविता का अंग अर्थात् प्रधान अंग माना है·

रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करैं कुरूपता॥[२]

—परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थ मे इस प्रकार के स्पष्ट संकेत है कि रस से उनका तात्पर्य रस-ध्वनि का ही है·

भिन्न-भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास।
रस व्यंगि सब को कह्यो, ध्वनि को जहाँ प्रकास॥[३]

इसके अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इन्होने अलंकार को भी बहुत महत्त्व दिया है·

अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृति छंडि।
सुकवि बचन रचनान सौं देत दुहुन को मंडि॥[४]

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप मे ध्वनिवादी थे ही

व्यंग्य जीव है कवित में, शब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है, बरनै व्यंग्य प्रसंग॥[५]

उन्होंने व्यंग्य पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा है जिसमे सारे रस-प्रसंग का व्यंग्य-ध्वनि के द्वारा वर्णन किया गया है।

---

१. रस-रहस्य
२ काव्य-निर्णय
३. काव्य-निर्णय
४ काव्य-निर्णय
५ व्यंग्यार्थ-कौमुदी

हिन्दी रीति काव्य मे ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप विहारी और प्रतापसाहि मे मिलता है। विहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रन्थो की रचना नही की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहो के काव्य-गुण का विश्लेषण करने पर यह सदेह नही रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिल-प्राकृतिक आनन्द की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्त्व देते थे।

उपर्युक्त कवियो से स्पष्टतया भिन्न दृष्टिकोण है मतिराम, देव, रसलीन, वेनी-प्रवीन जैसे कवि-आचार्यो और उनसे भी अधिक घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, वोधा आदिक रीति-मुक्त कवियो का, जो असदिग्ध रूप मे रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक है। इन सभी ने रस का, विशेषकर शृगार रस का ही, वर्णन किया है, अन्य अंगो को प्राय छुआ तक नही है। मतिराम ने 'रसराज' की रचना कवियो और रसिको के लिए ही की है, पण्डितो के लिए नही

रसिकन के रस को कियो नयो ग्रन्थ रसराज।

देव के विषय मे तो कहना ही क्या ? वे तो रसवाद के सबसे वडे पृष्ठ-पोषक थे :

काव्यसार शब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार।
सो रस वरसत भाव वस, अलंकार अधिकार।।
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामें दरसत भाव।
अलंकार शब्दार्थ के, छन्द अनेक सुभाव।।[१]

उन्होने काव्य की सृष्टि और श्रवण दोनो मे ही हृदयोल्लास की स्थिति को अनिवार्य माना है ; 'कहत लहत उलहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति', और रसकुटिल केवल व्यंग्य-लीन काव्य को स्पष्ट शब्दो मे अधम घोषित किया है। उन्होने अभिधा-आश्रित काव्य को इसलिए उत्तम माना है कि उसके द्वारा सहृदय काव्य-रस का सीधा संवेदन कर सकता है—उसमे किसी प्रकार का व्यवधान नही रहता जो लक्षणा अथवा व्यजना के अधीन काव्य मे थोडा-वहुत सर्वथा अनिवार्य होता है। और यही कारण है कि इस रस-सिद्ध कवि ने अलंकारो मे भी स्वभाव और उपमा को ही प्रधानता दी है, तथा चित्र-काव्य की रचना के लिए 'वायस चाम चवात' कहा है। इन कवियो की काव्य-पद्धति के विषय मे तो अधिक कहना व्यर्थ है। ये सभी रस-सिद्ध एवं शुद्ध हृदयवादी कवि थे जो प्रेम को जीवन का सार मानकर चले थे। उधर घनानन्द, ठाकुर आदि मे, जो रीति के वन्धन से सर्वथा मुक्त हो गए थे, यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा

---

१ शब्द-रसायन

पर पहुँच गई थी। उन्होंने तो अपनी कविता-रसिको के लिए भी नहीं, रसज्ञ 'नेहियो' के लिए लिखी थी।

तीसरे सम्प्रदाय अलकारवाद का भी प्रभाव हिन्दी में उपेक्षा-योग्य नहीं कहा जा सकता। अलकार-ग्रन्थो की इतनी वृहत् सख्या ही उसका महत्त्व प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है। यह ठीक है कि इन सभी के रचयिताओ को अलकारवादी नही कहा जा सकता, क्योकि उन्होंने न तो रस का तिरस्कार ही किया है और न अलंकार को ही काव्य का प्रमाण माना है। परन्तु जिन्होंने अपने रस-प्रेम का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलकार-ग्रन्थो का ही प्रणयन किया है, उनको अलकार-सम्प्रदाय से बाहर नही माना जा सकता। केशव का यह सिद्धात वाक्य :

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजही, कविता, बनिता, मित्त॥[1]

उनका दण्डी का अनुकरण और सबसे अधिक उनका काव्यगत अलकार-मोह सभी यह सिद्ध करते है कि वे मूलतः शृ गार-रसिक होते हुए भी अलकारवादी थे। राजा जसवन्तसिह और उनके अनुयायियो की प्रवृत्ति, किसी स्पष्ट सिद्धान्त-वाक्य के अभाव मे भी, इसी ओर सकेत करती है। बाद के कवियो मे उत्तमचन्द भडारी और ग्वाल की रुचि अलकारों मे ही रमी थी। भण्डारी ने तो केशव के सिद्धान-वाक्य को ही प्रतिध्वनित करते हुए स्पष्ट कहा है :

कविता बनिता रस-भरी, सुन्दर होइ सुलाख।
बिन भूषन नहि भूषहीं, यहै जगत की साख॥[2]

इनके अतिरिक्त कुछ लक्ष्य-ग्रथकार भी स्पष्टत. ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे : जैसे 'यमक-शतक' के रचयिता रहमान और 'चित्र-चन्द्रिका' के लेखक काशीराज इत्यादि।

इस प्रकार रीति-युग मे ध्वनि, रस और अलकार इन तीन ही वादो का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नही लिया, क्योकि वैसे भी वे उस समय तक काव्य-शास्त्र से बहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनो वादों मे भी प्रधानता रही रस-सम्प्रदाय की और रस मे शृ गार-रस की। वास्तव मे हिन्दी मे रुद्रभट्ट और भोज के अनुसरण पर 'शृ गारवाद' की स्वतन्त्र रूप मे ही प्रतिष्ठा हो गई थी।

१. कवि-प्रिया
२. अलकार-आशय

शृङ्गारिकता

शृंगारिकता के कारण—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है शृंगारिकता। उसे तो वास्तव मे रीति-काव्य के स्नायुओ मे बहने वाली रक्त-धारा कहना चाहिए; क्योकि इस वृहद् युग की कविता का नवदशाश से भी अधिक शृंगारिक-प्रधान है। शृगार की इस अतिशयता को तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यिक प्रभावो के प्रकाश मे अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास मे यह घोर अध पतन का युग था—मुसलमानो का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिन्दू-जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्ति-युग मे हिन्दुओ को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पडा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिताजनक नही थी। इनके अतिरिक्त उस समय के लोक-नायक महात्माओं ने आध्यात्मिक विश्वासो का ऐसा मागलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिदुओ ने सब-कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नही खोया था। परन्तु रीति काल तक आते-आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ बाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आन्तरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ घर की चहार दीवारी मे ही सीमित रह गई। घर में ही जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे, उनको जुटाकर लोग जीवन का निर्वाह कर रहे थे। निदान, विलास की सरिता दोनो कूलो को तोडकर बह रही थी। विलास का केन्द्र-बिन्दु थी नारी, जिसके चारो ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे। इन सबके विस्तृत विवरण के लिए रीति-काल की सामाजिक पृष्ठभूमि मे उद्धृत बर्नियर का उद्धरण पर्याप्त होगा। आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग मे यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकाक्षाएँ नारी के शरीर के चारो ओर ही मँडरा सकती थी। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन मे आए, पर उन सभी मे काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नही हुई। कारण यह था कि उन युगो मे नैतिक आदर्श दृढ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पड़ते थे। परन्तु रीति-काल मे कृष्ण-भक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक सकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नही पडी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप मे होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फारसी सस्कृति और साहित्य की शृंगारिकता अब तक भारतीय सस्कृति मे घुल-मिलकर उसका एक अग बन गई थी। वह नागरिकता का एक प्रधान अलकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन

दोनों रूपों में हिन्दी-कविता पर पड रहा था। तीसरे, संस्कृत और प्राकृत काव्य की जो परम्परा रीति-काव्य को उत्तराधिकार मे मिली वह भी एकांत-शृङ्गारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावो मे पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता यदि अतिशय शृङ्गारिकता से अभिभूत है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या!

शृंगारिकता का स्वरूप—नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण रीति-काल मे काम-वृत्ति को अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अतएव रीति-काव्य की शृङ्गारिकता मे अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नही है। उसमे स्वीकृत रूप से शरीर-सुख की साधना है, जिसमे न आध्यात्मिकता का आरोप है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हो, परन्तु शृङ्गारिक कुठाओ से वे मुक्त थी। इसी कारण इस युग की शृङ्गारिकता मे घुमडन अथवा मानसिक छलना नही है। परन्तु इस निर्बाध वासना-तुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ. वह यह कि काम जीवन का अतरग साधक तत्त्व न रहकर वहिरग साध्य वन गया। इसीलिए रीति-काव्य की शृङ्गारिकता मे प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्राय. मिलती है। और उसमे भी सूक्ष्म आतरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना-प्रधान एव एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एव अनेकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम मे तीव्रता होती है, रसिकता मे केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि विहारी, मतिराम, पद्-माकर रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने की आवश्यकता नही कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य-भावना भी वहिरङ्ग ही थी, अतरङ्ग नही थी। इन रसिको की दृष्टि प्राय. शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुँच पाती थी, और आत्मा का सात्त्विक सौन्दर्य तो उसकी परिधि से वाहर था ही। अत-एव इनकी सौन्दर्य-भावना, छायावाद की सौन्दर्य-भावना के विल्कुल विपरीत—विषयीगत न होकर प्रधानत विषयगत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप, अर्थात् विषयगत-सौन्दर्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन नयनो की प्यास अमिट थी। वास्तव मे इन कवियो से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किसमे हो सकती थी! एक ओर विहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य के वारीक-से-वारीक सकेत को पकड सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रस-सिद्ध कवियो की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व मे ऐन्द्रिय आनन्द का पान करके उत्सव मनाने लगती थी। नयनोत्सव का ऐसा रग विद्यापति को छोडकर प्राचीन साहित्य मे अन्यत्र दुर्लभ ही है:

मतिराम

होत रहै मन यो मतिराम, कहूँ वन जाय बडो तप कीजै।
ह्वै वनमाल हिये लगिये अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीजै ॥[1]

देव

धार मैं धाय-धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न उधेरी।
री ! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहिं घेरी ॥
देव कछू अपनो वस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही बूडि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भईं मेरी ॥[2]

घनानन्द

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि मैं छवि-फूलनि की, वरषा उर ऊपर जात है ह्वै ॥
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकण्ठ बनी जलजावली द्वै ;
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अवै धर च्वै ॥[3]

पद्माकर

पैरे जहाँ ही जहाँ वह वाल, तहाँ तहाँ ताल मे होत त्रिवैनी।[4]

शृंगार का गार्हस्थिक रूप—इस शृङ्गारिकता के विषय मे दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि इसका स्वरूप प्राय. सर्वत्र ही गार्हस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीति-काव्य भारतीय शृंगार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर वाह्य प्रभाव बहुत-कुछ पडा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्त्व सर्वदा भारतीय ही रहे। भारतीय शृङ्गार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, संयोग प्रवास, करुण, विप्रलम्भ—सभी दशाओं मे अपने गार्हस्थ्य-तत्त्व को बनाए रहा है—यहाँ तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता मे भी उसकी गार्हस्थिकता नष्ट नहीं हुई। इसी परम्परा मे होने के कारण रीति-कविता का शृङ्गार दरवारी प्रभाव मे रहते हुए भी अपना सहज स्वरूप बनाए रहा। उसमे नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारी हुस्न-परस्ती की वू नहीं आ पाई—यद्यपि एक-एक राजा या रईस के यहाँ अनेको वेश्याएँ थीं, पातुरे रहती थी। केशव के आश्रयदाता इन्द्रजीत सिंह के यहाँ छह वेश्याएं तो नियमित रूप से थी—अनियमित रूप से आने-जाने वाली तो न जाने कितनी होंगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया-प्रेम का

१ रसराज
२ प्रेम-चन्द्रिका
३ सुजान-सागर
४. जगद्विनोद

ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या :

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।

× × ×

पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत।
आपु औटि खोया मिलै खात दूध फल होत॥
काचो प्रीति कुचालि की बिना नेह रस-रीति।
मार-रग मारू-मही बारू की-सी भीति॥[1]

गणिका के प्रेम को उन्होने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया। 'प्रेम हीन त्रिय वेश्या है शृगाराभास'। इसी धर्म-संकट से बचने के लिए बिचारे दास को घर मे रखी हुई परकीयाओ—अथवा गणिकाओ को—स्वकीयात्व का फतवा देना पडा। परिणाम स्वरूप यह शृगार-विलास उच्छृङ्खल होते हुए भी गार्हस्थिक वातावरण से बाहर कभी नही हुआ—कुल और शील की छाया उस पर किसी-न-किसी रूप मे सदैव रही। और इसीलिए तो इस अभिसारिका के एक-आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्राय सर्वत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहाँ दूती, दासी आदि की सहायता से सर्वथा घरेलू रीति से ही होती है। न यहाँ किसी अर्जुन को मत्स्य भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पडता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध मे विजय प्राप्त करनी पडती है, और न किसी मजनूँ को सहरा की खाक छाननी पडती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता—जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर—रीतिकाल के शृगार मे अप्राप्य है। उपभोग-प्रधान होने से उसमे बलिदान की गभीरता और साहसिकता की शक्ति नही है, और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण—हम कह चुके है कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावत. रीतिकालीन कवियो का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण-मात्र है :

क्षुधा-कामवश गत युग ने पशु-बल से कर जन-शासित,
जीवन के उपकरण-सदृश नारी भी कर ली अधिकृत![2]

---

१ देव-प्रेम-चन्द्रिका

२. पन्त

यह शृंगार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव मे कम है—व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस-प्रसगो मे नारी भी कम सक्रिय नही दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है—पुरुष को हम प्राय उसके चरणो पर सिर रखते हुए देखते है, परन्तु इस सबका अर्थ फिर भी यह नही होता कि रीति-युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता—सभी चेष्टाएँ वास्तव मे उसकी उपभोग्यता मे श्री-वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई है—उनको इसीलिए तो नायिका के अलकार के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व—उसके प्रेम-विरह, सुख-दु ख, हाव-भाव, लीला-विलास का एक ही उद्देश्य है, उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक-से-अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसमे व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एकनिष्ठता नही है। नायिका-भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपो का विस्तार ही तो है—रीतिकाल के पुरुष को नारी-विशेष की वैयक्तिक सत्ता (Individuality) मे प्रेम नही था—उसके नारीत्व से ही प्रेम था। देव ने निस्सकोच रूप से स्वीकृत किया है :

काम अन्धकारी जगत लख न रूप कुरूप।
हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप॥
तातै कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
राचै पागै प्रेम रस, मेटै मन के खेद॥
रचौ राम सँग भीलनी, जदुपति सग अहीरि।
प्रबल सदा बनवासिनी, नवल नागरिन पोरि॥
कौन गनै पुर, बन, न र, कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को, चित्त हरै करि प्रीति॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहने का अवकाश नही देता कि रीतिकाल के कवि के मन मे नारी के प्रति कितना आदर-भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख-भोग के साधन से अधिक और क्या था! इसीलिए परिस्थिति बदलते ही ये लोग दूसरी ही साँस मे उसकी छवि को छाया-ग्राहिणी अथवा विवेक को हरने-वाली कहने से नही चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि मे कुछ था ही नही। गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत भी सुख-दु खो की समभोक्ता सहचरी, माता, बहन, पुत्री, मित्र, सचिव आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण रूप हो सकते थे—परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनमे नही है। उसकी सात्त्विकता स्वकीया की 'कुल कानि' से, उसका

१. देव—रस-विलास'

आत्माभिमान खण्डिता की मान-दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियाँ विदग्धा की चातुरी से आगे नही जा सकती थी।

रीति-काव्य की शृंगारिकता का स्वरूप-विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते है :

१. उसका मूलाधार रसिकता है, प्रेम नही। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय, अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौंदर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौंदर्य के रहस्य-सकेत नही।

२. इसीलिए वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप मे स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, न उदात्त और परिष्कृत करने का।

३. यह शृगार उपभोग-प्रधान एव गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्राय. उसमे नहीं मिलती।

४. इसीलिए इसमे तरलता और छटा अधिक है, आत्मा की पुकार एव तीव्रता कम।

जीवन-दर्शन : रूढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति-युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नही था। जिस युग मे राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है ! वाछित अभिव्यक्ति के अभाव मे जीवन की वृत्तियो का वह सतुलन नष्ट हो गया था जो जीवन-दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्य-क्षेत्र की परिधि अत्यन्त संकुचित हो जाने से उनको उचित व्यायाम का अवकाश ही नहीं मिलता था। जीवन का स्वस्थ सघर्ष, जो मानव-शक्तियो को विकसित और पुष्ट करता है, समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था—जिसमे अब सामन्तवाद की शक्ति और अहता छाया-शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी। इसीलिए तो रीति-कवियों का दृष्टिकोण बद्ध और सकुचित है। भौतिक जीवन के आर-पार देखने वाली दृष्टि तो उन्हे प्राप्त थी ही नही—भौतिक जीवन के अन्तर्गत भी उनकी गति अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनमे वह प्रबल अहकार नही था जो भौतिक उच्चाकाक्षाओ को जन्म देता है, दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नही थी तो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीति-काव्य आध्यात्मिक तो है ही नही, तथापि वस्तु-रूप मे भौतिक भी नही है—अर्थात् उसमे न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है, न प्रकृति की

दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड-धूप से श्रात होकर मानव नारी की मधुर अचल-छाया मे बैठकर अपने दु खो और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमे स्थान ही नही है। उस पर अकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकागी ही है, परन्तु उसमे एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है। घोर निराशा के उस युग मे जीवन मे किसी-न-किसी प्रकार ये कवि रस-सचार करते रहे, मै समझता हूँ कम-से-कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर, बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असगत होगा; क्योकि यह तो मानना ही पडेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत-कुछ हल्का पडता है। जीवन के मूलगत गम्भीर प्रश्नों का स्पर्श भी वह नहीं करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नही मानता—उसके द्वारा उद्बुद्ध जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओ से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण के विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीतिबद्धता एव अलकरणप्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक संकुचित दायरे मे जीवन की सतह को ही छूकर रह जाएगा उसकी वाह्य क्रिया-शक्तियाँ स्वभावतः अलकरण की ओर ही प्रेरित होगी, क्योकि उनके लिए विस्तार और गहराई मे तो कोई अवकाश है ही नही। यही कारण था कि इन कवियो का अलकारो से इतना अधिक मोह हो गया और वे रीति के बन्धनो से प्रेम करने लग गए। मुख्यत इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओ मे आमने-सामने खडे होकर टक्कर लेने मे व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियों—की परीक्षा होती है। तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इस युग मे नहीं था। घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया मे त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पड़ा हुआ यत्रवत् चल रहा था। क्या राजनीतिक क्षेत्र मे और क्या सामाजिक क्षेत्र मे, सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह नि शेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी; केवल रीतियो की दासता मात्र रह गई थी, जो कि रीति-काव्य मे स्पष्टतः प्रतिफलित है। कवियो के सम्मुख तो व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष का प्रश्न और भी नही था—उनका जीवन-पथ तो सर्वथा सरल एवं निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था—राज्याश्रय, उनका कर्तव्य-कर्म केवल एक ही था—काव्य-रचना; उनका लक्ष्य केवल एक ही था—रस-प्राप्ति। ऐसे कवियो की कविता भला अवैयक्तिक एव रीतिबद्ध क्यो न होती!

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप

रीति-युग की धार्मिकता और भक्ति भी रूढ़िबद्ध ही थी—वास्तव मे धर्म इस युग मे आकर धर्माभास-मात्र रह गया था। धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का, जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था; परन्तु विश्वास अभी ज्यो-त्यों बना ही हुआ था। ऐन्द्रिय प्रेम मे आकण्ठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका का तन-द्युति मे अनुराग बनाये हुए थे

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति कर अनुरागु।
जेहि ब्रज-केलि निकुज मग, पग-पग होतु प्रयागु॥[1]

वास्तव में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी-न-किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीति-काल का कोई भी कवि भक्ति-भावना से हीन नही है—हो ही नहीं सकता था; क्योकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन मे इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति-रस मे अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धांतिक निषेध करते। इसीलिए रीति-काल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बार-बार 'हरि' और 'राधिका' शब्दो का प्रयोग किया गया है।

रीति-काव्य का रूप-आकार

रीति-काल भाषा का अलकृत काल है। भक्ति-काल मे तुलसी, जायसी, सूर जैसे कवियो के सशक्त हाथो मे पडकर जो भाषा प्रौढता के चरम रूप को प्राप्त कर चुकी थी वह रीति-काल तक आते-आते स्वभावतः अलंकरण की ओर झुकने लगी। उसकी शक्तियो का पूर्ण विकास तुलसी और सूर कर चुके थे, वह विराट्, तीव्र, सूक्ष्म और तरल सभी प्रकार की अभिव्यक्ति मे पूर्ण समर्थ थी। उसके लिए अब केवल दो विकास-पथ थे : एक व्यवस्था, दूसरा अलकरण। समय की रुचि और तदाश्रित काव्य-प्रेरणा चूंकि अलकरण के ही अनुकूल थी, निदान उसने अलंकरण ही मे विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य के रूप-आकार को उन्होने कई प्रकार से अलंकृत किया है—एक तो प्रत्यक्षत. शब्द और अर्थ के अलकारो का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की व्यजनात्मक

१. बिहारी-सतसई

शक्ति और कहीं-कहीं लक्षणा का भी उपयोग करके और तीसरे माधुर्य-गुणोचित शब्दों तथा कोमल-वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके।

अलकारो का प्रयोग—कविता और अलकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भक्त-कवियो के उद्गार भी उक्ति-चमत्कार से हीन नही है। परन्तु यदि उनकी आत्मा का विश्लेषण किया जाय तो वे उक्तियाँ भाव की ऊष्मा से ही चमत्कृत है। आवेश अथवा अन्त प्रेरणा के क्षणो मे वाणी अपने-आप ही उद्दीप्त हो गई है। उसको अलकृत करने का प्रयत्न नही किया गया। रूपको का जाल तुलसी और सूर मे केवल वहीं मिलता है, जहाँ भाव क्षीण है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त कवियो मे अलकृति की कमी नही है, परन्तु वह प्राय. अयत्नज है। रीति-काल के कवियो ने सचेत होकर और प्रायः यत्नपूर्वक अपनी वाणी को अलंकृत किया है—और उनके काव्य-विषयक दृष्टि-कोण को देखते हुए ऐसा सर्वथा स्वाभाविक भी था। कविता उनके लिए, जैसा कि आरम्भ मे ही कहा है, एक कला थी—व्यक्तित्व को अलकृत करने वाला शृगार अथवा गोष्ठी-मण्डन थी। स्वभावत अलंकरण उसका एक मौलिक तत्त्व था। दूसरे, शृंगार और उसमे रसिकता एवं वस्तुगत दृष्टि का प्राधान्य होने के कारण रूप-आकार की सजावट भी अनिवार्य ही थी। प्रेमाहत कवियों के उद्गार तो सीधे और अपनी अभिव्यक्ति मे नग्न है। उनको तो अलंकरण का धैर्य ही नही था। परन्तु रीति-काल के अधिकाश कवि रूप-रसिक नागरिक थे, अतएव वे अपनी कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे! इसके अतिरिक्त अलकार-सम्प्रदाय भी तो उस समय अत्यन्त लोक प्रिय था। मतिराम और देव-जैसे रस-सिद्ध कवियो को भी उसका प्रभाव व्यक्त रूप मे स्वीकार करना पडा था।

सिद्धात-रूप से तो इस युग मे अर्थालकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालंकार की उपेक्षा-सी होने लगी; परन्तु प्रयोग मे सभी कवियो ने उनका सम्मान किया है। वास्तव मे दोनो प्रकार के अलंकारो का जितना प्राचुर्य इस काव्य मे मिलता है, उतना अन्यत्र नही। रीति-काव्य एक तरह से अलंकारो का समृद्ध कोष है, जिसमे बढिया-से-बढिया और घटिया-से-घटिया नमूने मिल सकते है। सयत और सतुलित रुचि के कवियो मे अलकारो का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है—वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वास्थ्य के इतने सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। चमत्कारी कवियो ने अलंकारो को साधक न मानकर साध्य माना है—इनमे सुरुचि और कुरुचि का अनमेल मिश्रण पाया जाता है। इन्होने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी से खिलवाड किया है, दूसरी ओर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बाँधे है।

उपमानो और प्रतीको का प्रयोग—यह तो मानना ही पडेगा कि जिस क्षेत्र ने

रीति-कवियो ने अपनी अलकरण-सामग्री का चयन किया है, वह अपेक्षाकृत संकुचित है। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनो क्षेत्रो में उनकी गति सीमित थी; उन्होंने केवल कामोपभोग की दृष्टि से इनको देखा है—अतएव उनके प्रतीक और उपमान प्राय विलास मे सम्बद्ध हैं। प्रकृति के क्षेत्र मे रीति के उद्दीपन—चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, नक्षत्र, मेघ, विद्युत्, जमुना, वासन्ती, लता-गुल्म, कमल, चम्पक, कुद, चकोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खंजन, भ्रमर आदि ही उनके उपमान और प्रतीक हैं। भौतिक जीवन मे नागरिक विलास की वस्तुओ से ये आगे नही गये—मणि-मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, घनसार, अंजन, आभूषण, और कामदेव के धनुष-बाण आदि ही उनके प्रिय उपकरण रहे हैं। बिहारी ने जल-चादर, किब्लनुमा, फानूस, शीशमहल, ताफ़ता जैसे नूतन उपमानो का प्रयोग करते हुए उनकी संख्या मे वृद्धि की है; परन्तु ये उपमान भी रीति-भुक्त चाहे न हो, नागरिक विलास के उपकरण तो हैं ही। साराश यह है कि रीति-काल के उपमान प्रायः काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं। और उनके प्रयोग मे इस युग के कवियो ने नूतन संयोजनाएँ प्राय नही की, वरन् परम्परा का ही अनुसरण अधिक किया है। संस्कृत मे कालिदास का कौशल यही तो था कि वे प्रचलित उपमानों के विभिन्न संयोगो द्वारा सर्वत्र एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते थे। छायावाद-युग मे प्रसाद, पंत और महादेवी ने इस कला की ही वृद्धि की है। रीति-काल के कवियो ने नवीन प्रयोगो द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दर्य-बोध जागृत नही किया, समृद्ध उपमानो के प्राचुर्य मे जगमगाहट उत्पन्न की है। प्रतीको का प्रयोग रीति-कविता मे अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए है वे रूढ है और वैसे वे सभी स्वीकृत रूप मे काम-प्रतीक है। मनोविश्लेषण के विशेषज्ञों ने मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के माने है—सृजन के प्रतीक विकासशील और प्रसन्न तथा नाश के गति-रूद्ध और गुरु-गंभीर होते है। काम मे वास्तव मे सृजन और नाश दोनो का सम्मिलन हो जाता है। संयोग-शृङ्गार के प्रतीको मे प्रसन्नता और वियोग के प्रतीको मे घनता रहती है। रीति-काल के प्रतीक अधिकाश मे प्रसन्न और विकच है—जो संयोग के प्रभुत्व के द्योतक है।

रीति-काल का दूसरा प्रयोग-कौशल था कोमल शब्द-चयन। इन कवियो ने प्रयत्न पूर्वक सभी कठोर और श्रुति-कटु शब्दो का बहिष्कार किया है—अथवा कठोर शब्दो की हड्डियाँ तोडकर उन्हे अत्यन्त लचीला और उनके खुरदरेपन को खरादकर चिकना कर दिया है; भले ही ऐसा करने मे उन्हे अपने शब्द-भाण्डार को सीमित करना पडा हो। यहाँ सयुक्ताक्षरो का प्रयोग अत्यन्त विरल है, पद प्राय असमस्त है, समास यदि आये भी है तो छोटे है, और उनमे वर्ण-मैत्री और भाषा की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा के प्रयोग मे इन कवियों ने एक ख़ास नाजुक-मिज़ाजी बरती है। इनके काव्य मे किसी भी ऐसे शब्द की गुजायश नही है, जो

माधुर्य गुण के अनुकूल न हो—अक्षरो के संगुम्फन मे इन्होने कभी त्रुटि नही की। संगीत के रेशमी तारो मे इनके शब्द माणिक-मोती की तरह गुंथे हुए है—ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार अंग्रेज़ी की अठारहवीं शताब्दी की भाँति रीति-काल मे काव्य-भाषा का एक विशिष्ट रूप बन गया था जिसके दो मुख्य तत्त्व थे नागरिकता और मसृणता। ये ही दो तत्त्व इस भाषा के शब्द-चयन का नियमन करते है—ब्रज के अतिरिक्त अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी—सभी के शब्दो के लिए, यदि उनमे उपर्युक्त दोनो गुण विद्यमान है, द्वार उन्मुक्त था। उनमे सभी प्रकार के ग्राम्य अथवा अभद्र स्पर्शों का अभाव तो है ही, बोल-चाल के चलते और काम-काजी प्रयोगो को भी कभी बढ़ावा नही मिला—इसलिए उर्दूदाँ रसिको की रीति-भाषा से यह शिकायत रही है कि उसमे मुहावरो की कद्र नही की गई। इस भाषा के लिए शब्दो अथवा पदो की सबसे बड़ी विशेषता थी रस-सिक्तता एव सगीत—बस। इस प्रकार यह केवल काव्य की भाषा थी, जन-जीवन की भाषा नही थी—इसीलिए उसमे रचनात्मकता-मात्र थी, महाप्राणता और व्यापकता नही रह गई।

रीति-काव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूप-रेखा हिन्दी मे चिंतामणि के उपरात बँध कर निश्चित हुई—वह कोई आकस्मिक घटना नही थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी—जिसके अन्त.तत्त्व प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति-काव्य मे धीरे-धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप मे विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की, जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमे निर्णीत उदात्त 'काव्य-वस्तुओं' को छोडकर नित्य-प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे-छोटे चित्रो को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पण्डितो का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत मे आकर बस गई—और आर्यों की शिक्षा-संस्कृति का आभीरो के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयो के मन मे परलोक की चिंता से मुक्त नित्य-प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। जीवन से बढकर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा और वहाँ भी कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाश-चुम्बी राज-महलो से उतर कर साधारण जीवन के सुख-दु खो मे रमने लगी। इस दृष्टि-परिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमे हाल की 'सत्तसई' मे मिलती है जिसकी रचना चिंतामणि से कम-से-कम १३ शताब्दी-पूर्व और अधिक-से-अधिक १६ शताब्दी-पूर्व हुई थी। हाल की 'सत्तसई' रीति-काव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रन्थ है। प्राकृत मे रची हुई ये गाथाएँ प्राकृत जीवन के सरल-सहज घात-प्रतिघातो को चित्रबद्ध करती है। इनका वातावरण सर्वथा

गार्हस्थिक है और यौन सम्बन्धो के वर्णन मे बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति मे सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है—अतिशयोक्ति को कही भी महत्त्व नही दिया गया। इसीसे इन गाथाओ मे एक भोली सुकुमारता है, जैसी कि मतिराम आदि मे मिलती है।

जस्स जहं विश्र पठमं तिस्सा अगम्मिणिवडिश्रा दिट्ठी।
तस्स तहिं चेश्र ठिश्रा सव्वंग केण विण दिठ्टम्।
यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम्॥

'सत्तसई' के उपरात इस प्रकार के शृंगार-मुक्तको के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत मे मिलते है। एक अमरुक कवि का 'अमरु-शतक'—दूसरी गोवर्धन की 'आर्या-सप्त-शती'। इनकी रचना निश्चित ही 'प्राकृत सत्तसई' के आधार पर हुई है, परन्तु वातावरण में अन्तर है। संस्कृत के इन छंदो मे गाथाओ मे अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौंदर्य नही है। इनमे नागरिक जीवन की कृत्रिमता आ गई है। हाल की गाथाओ और गोवर्धन की आर्याओ को साथ रखकर पढने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओ का सहज गुण और उस पर आश्रित वन्य सुकुमारता इन आर्याओं मे नही है—अभिव्यक्ति मे अलंकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टत. ही इनका आग्रह बढ चला है। यह परम्परा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश मे भी अवश्य चली होगी, परन्तु उसके प्रमाण-रूप कोई विशेष स्वतत्र ग्रंथ नही मिलते—केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' मे स्फुट गीत-छद मिलते है। हेमचन्द्र के ग्रन्थ मे उद्धृत मुज के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कडी है। इनके अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य मे ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रन्थो की रचना हुई, जिनमें कालिदास के प्रचलित 'शृगार-तिलक', 'घटकर्पर, भर्तृहरि-रचित 'शृंगार-शतक', विल्हण की 'चौर पंचाशिका' आदि अपने शृंगार-माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु ये ग्रन्थ उपर्युक्त परम्परा से थोड़े भिन्न है, यद्यपि इसमे सन्देह नही कि उस परम्परा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पडा है। इनकी आत्मा मे जो आभिजात्य की गध है वह उन्हे 'सत्तसई', 'आर्या-सप्तशती' और 'अमरु-शतक' के साधारण धरातल से पृथक् कर देती है। संस्कृत-साहित्य मे शृंगार के इन मुक्तको के समानान्तर ही भक्ति-परक मुक्तको की भी एक परिपाटी चल पडी थी जिसके अंतर्गत 'दुर्गा-सप्तशती', 'चण्डी-शतक', 'वक्रोक्तिपंचाशिका' (शिव-पार्वती-वन्दना) और कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध 'कृष्ण-लीलामृत' आदि के अनेक स्तोत्र-ग्रन्थ आते है। इन स्तोत्रो की आत्मा मे भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी बाह्य रूप मे प्रायः शृंगार की प्रधानता मिलती

है। इनमे शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की शृगार-लीलाओ का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगार-काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवी से चौदहवी शताब्दी तक बंगाल और बिहार मे जो राधा-कृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यो मे ओत-प्रोत है, विद्यापति के गीत इन्ही का तो हिन्दी-संस्करण है। इन ग्रन्थो के विषय मे भी ठीक वही कहा जा सकता है जो कि 'शृंगार-तिलक' आदि के विषय मे कहा गया है, अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असंदिग्ध रूप मे स्वीकार करते हुए भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न मानना पडेगा। परन्तु हिन्दी-रीति-काव्य मे जो 'राधा कन्हाई सुमिरन'' के बहाने का एक निरन्तर मोह तथा नायक के लिए कृष्ण और नायिका के लिए राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है, उसके लिए इन स्तोत्रो का प्रभाव बहुत-कुछ उत्तरदायी है। वास्तव मे रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तको की उपर्युक्त परम्परा से माने तो उसके बाह्य रूप (Form) [जिसमे कि राधाकृष्ण के प्रतीको का प्रयोग हुआ है] के विधान मे इन स्तोत्रो के कुछ स्पर्श अनिवार्यत मानने पडेंगे। इस सत्य को स्वीकार करने के लिए इसलिए और भी बाध्य होना पडता है कि स्वयं रीतियुग में 'चण्डी-शतक', 'चरण-चद्रिका' आदि स्तोत्रनुमा ग्रन्थो की रचना यदा-कदा होती रही थी।

इन दोनो श्रेणी के काव्यो को प्रभावित करने वाली एक तीसरी चिताधारा थी काम-शास्त्र की, जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परन्तु संस्कृत-काव्य की अतिम शताब्दियो मे अत्यधिक लोकप्रिय हो गई थी। इस चिंता-धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के 'काम-सूत्र' मे, जो विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट था। 'काम-सूत्र' के उपरात 'रति-रहस्य', 'अनग-रंग' आदि अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। यौन विज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पडा हो, परन्तु काव्य के वर्णन और मनोविज्ञान को इन्होने निश्चित रूप से प्रभावित किया। ऐहिक शृंगार-मुक्तको, शिव और कृष्ण-भक्ति के स्तोत्रो और नायिका-भेद के ग्रन्थों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमे अंकित शृंगार-भावनाओ तथा केलि-क्रीडाओ के चित्रो एवं नायिकाओ के भेद-प्रभेदो मे स्थान-स्थान पर उपयुक्त ग्रन्थो की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

सस्कृत की यही तीन मुख्य साहित्यिक परम्पराएँ थी जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे हिन्दी-रीति-काव्य ने अपने अन्तर्तत्त्वो को ग्रहण किया। इसके उपरात तो हिन्दी-साहित्य का ही उदय हो गया।

हिन्दी का आदिम युग वीर-गीतो और वीर-गाथाओं से मुखरित था। वीर-गीतों का तो प्रश्न ही नही उठ सकता, परन्तु वीर-गाथा के कवियो मे कुछ कवि—विशेष कर चन्दबरदायी—काव्य-रीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। 'पृथ्वीराज-रासो' के

शृंगार-चित्रो मे अनेक चित्र ऐसे मिल जाते है जिनमे रूप के उपमानो को बहुत-कुछ उसी प्रकार रीति मे जकड़कर उपस्थित किया है जैसा रीति-युग मे हुआ है। उदाहरण के लिए, परिचित नख-शिख लिया जा सकता है :

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो वन्निय,
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
विगसि कमल मृग भ्रमर नैन खजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नख सिख अहि घुट्टिय।
छत्रपति गयन्द हरि हस गति विह बनाए संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय ॥[१]

(२) देखि बरन रति रहस। बुन्द कन स्वेद सम्भुवर।
चन्द किरन मनमथ्थ। हथ्थ कट्ठ जडु डुक्कर॥
सुकवि चन्द वरदाय। कहिय उप्पय श्रुति चालह।
मनो मयक मनमथ्थ। चन्द पूज्यो मुत्ताहय॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति। प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय॥
सुक कहे सुकिय इंछनि सुनवि। पै पंगानिय सुन्दरिय॥[२]

परन्तु इस प्रकार के रीति-ग्रथित वर्णन कहीं भी पाये जा सकते है। इसी-लिए इनमे या इस प्रकार के अन्य वर्णनो मे रीति-तत्त्व खोजना विशेष अर्थ नही रखता। हिन्दी मे वास्तव मे सबसे पहले कवि विद्यापति है, जिनमे रीति-संकेत असंदिग्ध रूप मे मिलते है। रीति-काव्य की ऐन्द्रिय शृंगारिकता का तो विद्यापति मे अपार वैभव ही है। उसकी रीतियो का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के शृंगार-चित्र सभी अलकृत है और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठा-धार स्पष्ट है। ऊपर गिनाई हुई काव्य-परम्पराओ मे ऐतिहासिक मुक्तको की परम्परा स्तोत्रो के भक्ति-रस में रंगकर जो रूप धारण कर सकती है बहुत-कुछ वही हमे विद्यापति मे मिलता है। इसीलिए विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होते हुए भी अधिक स्थूल नही हो पाए है। उनमे एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे, रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है—वस्तुगत नही है। उनका धरातल नित्य-प्रति के गार्हस्थ्य-जीवन तक नही उतरा इसलिए उनमे वह मुखरता नहीं है जो रीति-काल के शृंगार-चित्रो मे अनिवार्यतः मिलती है, इन ही दो कारणो से विद्यापति रीति-काव्य की परम्परा से थोडा बच जाते है। अन्यथा उनमे रीति-सकेतो का

---

१ चन्द, पद्मावती-समय पृ० ना०

२ चन्द

प्राचुर्य असंदिग्ध है ही। उनके छन्द रीति-काव्य के किसी भी संग्रह में उठाकर रखे जा सकते हैं :

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल॥
अब सब खन रह आँचर हात।
लाजे सखिगन न पुछए बात॥
कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतई मनसिज मन रहु बंधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम॥
सुनइत रस-कथा थापय चीत।
जइसे कुरंगिनि सुनये संगीत॥
सैसव जौवन उपजल बाद।
केओ न मानय जय-अवसाद॥[१]

उपर्युक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जाने कितने रीति-छन्दों में सुन सकते हैं।

चन्द, विद्यापति आदि के काव्य से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीति-शास्त्र का पूरा-पूरा ज्ञान था और उस समय रीति-ग्रन्थों का बहुत-कुछ प्रचार हिन्दी में भी निश्चित रूप से था। कृपाराम-कृत 'हित-तरंगिणी' इस अनुमान को सार्थक करती है। स्वयं उसकी ही रचना हिन्दी-काव्य के अत्यन्त आरम्भिक काल, सम्वत् १५९८, में हुई :

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हित तरंगिणी हौं रची कविहित परम प्रकासु॥

इनके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दों में अपने पूर्व रचे हुए रीति-ग्रन्थों की ओर संकेत किया है :

बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बड़े बिस्तारि।
मैं बरन्यो दोहान बिच यातें सुघरि बिचारि॥[२]

अतएव इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दी में रीति-काव्य की परम्परा लगभग उसके जन्म से ही आरम्भ हो जाती है—पुष्य या पुण्ड्र का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं। 'हित-तरंगिणी' शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य-ग्रन्थ

---

१. विद्यापति-पदावली
२. हित-तरंगिणी

भी नहीं व्यक्त रूप से लक्षण-ग्रन्थ है, जिसमें सम्पूर्ण नायिका-भेद अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है। कृपाराम ने, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनेक ग्रंथ पढने के उपरान्त, फिर आप विचारकर, कवियों और नागरिकों के लिए किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत-ग्रन्थ है, परन्तु उन्होंने सभी परवर्ती ग्रन्थों का अनुशीलन किया है और अत्यन्त स्वच्छ लक्षण-उदाहरणों के द्वारा बडी सुथरी भाषा में नायिका-भेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्थों से अधिक समृद्ध है। बाद में मतिराम, वेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नहीं किए। इनके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ में यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नहीं है, स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न-भिन्न भेदों का समन्वय और संगठन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के समसामयिक ही थे। 'सूरसागर' में भी रीतिबद्ध शृंगार-चित्रों की कमी नहीं है। विद्यापति की भाँति संयोग और वियोग के सभी पहलुओं का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, उनके चित्रों में अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिका भेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नहीं छोडा। भक्त कवि सूर की खण्डिता का एक चित्र देखिए :

तहँइ जाहु जहँ रनि बसे।
अरगज अंग मरगजी माला वसन सुगध भरे से है।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है॥[1]

और रीति-कवि विहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइए

पलक पीक, अजन अधर, लसत महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥[2]

इस प्रकार सूर के अनेक चित्रों का रीति-कवियों ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलंकार के उदाहरणों में विना किसी कठिनाई के रूपान्तर करके रख दिया है।

सूर का दूसरा ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' दृष्टकूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति-अन्तर्गत अलंकार-परम्परा में आता है। सूर के उपरान्त तुलसी-कृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है। उसके अनेक बरवै प्राय अलकारों के उदाहरण से लगते हैं। उधर रहीम और नन्ददास ने तो नायिका-भेद पर स्वतन्त्र ग्रंथ ही लिखे हैं। रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बरवै नायिका-भेद है',

१. सूर-सागर
२. विहारी-सतसई

जिसमे विभिन्न नायिकाओ के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए है। यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति-ग्रन्थ है। इसमे नायिकाओ के देश-भेद भी दिये गए है। बाद मे देव ने 'रसविलास' आदि मे इसी का अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर शृंगार-दोहो को भी बडी सरलता से रीति-काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।

नन्ददास ने अपना ग्रथ 'रसमजरी' भानुदत्त की 'रसमजरी' के आधार पर लिखा है :

'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिए है, वहाँ नन्ददास ने उदाहरण न देकर बस लक्षण-मात्र ही दिए है। नन्ददास का नायिका-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है—उन्होने अपने लक्षणो को सूत्र बनाकर नही छोड दिया, वरन् भिन्न-भिन्न नायिकाओ के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव मे—जैसा कि एक हिन्दी के लेखक ने कहा है—'रसमजरी' नायिका-भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है।

इस प्रकार रीति-परिपाटी गिरती-पडती किसी-न-किसी रूप मे आरम्भ से ही चल रही थी, परन्तु अभी हिन्दी मे कोई ऐसा आचार्य न हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता। कृपाराम की 'हिततरंगिणी' यद्यपि एक शुद्ध रीति-ग्रथ थी—परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका-भेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व मे इतनी शक्ति नही थी कि रीति-परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओ के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सकते। यह कार्य केशवदास ने किया। केशवदास हिन्दी के पहले आचार्य है, जिन्होने काव्य-रीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अगो का गभीर और पाडित्यपूर्ण विवेचन किया है। यह तो ठीक है कि उनका सिद्धात-वाक्य रूप यह दोहा :

जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

—और व्यावहारिक रूप मे भी अलकार के प्रति उनका अनुचित मोह, दोनो ही उन्हे दण्डी आदि अलकारवादियो की कोटि मे रखते है—परन्तु उनकी 'रसिक-प्रिया' रस और नायिका-भेद का प्रौढ ग्रथ है। यदि हम केशव की 'रसिक-प्रिया' को ही ले, 'कवि-प्रिया' को न देखे तो—उन्हे रसवादी कहने मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। उन्होने भी उसी आग्रह से शृगार को रसराज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य है कि केशव ने वास्तव

मे पूर्व-ध्वनि तथा उत्तर-ध्वनि दोनो कालो को विचारधाराओ को हिन्दी मे अवतरित किया। 'कविप्रिया' मे अलकार्य और अलंकार मे अभेद करने वाली पूर्वध्वनि-काल की विचारधारा की अभिव्यक्ति है और शृंगार को एकमात्र रस स्वीकृत करने वाली 'रसिक-प्रिया' पर उत्तर-ध्वनि काल की सिद्धात-परम्परा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिन्दी-रीति-परम्परा के सबसे पहले मार्ग-स्तम्भ हैं। केशव के उपरान्त दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है, जिन्होने 'कल्पद्रुम' मे काव्य के अग-उपागो का विवेचन किया है। 'काव्य-कल्पद्रुम' आज अप्राप्य है—परन्तु उनके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किये हुए सकेतो से अनुमान किया जाता है कि वह 'काव्य प्रकाश' की शैली पर काव्य की सम्पूर्ण रीतियो पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ होगा। फिर तो चिन्तामणि और उनके बन्धु-द्वय का ही युग आ जाता है। और, रीति-ग्रन्थो की क्षीण रेखा-धारा, जो हिन्दी के जन्म-काल से दबती-छिपती चली आ रही थी, शत-शत मुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त साधारणत यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिन्दी मे रीति-परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्म-काल से ही मानना पडेगा—पुष्य या पुण्ड् कवि-विशेष का अस्तित्व चाहे माने या नही। जन-समाज मे जहाँ समय-प्रभाव के अनुकूल वीर-भाव अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति की भावनाएँ काव्य-रूप मे अभिव्यक्त हो रही थी, वहाँ साहित्यविद् पण्डितो की गोष्ठियो मे आरम्भ से ही रीति-परम्परा का किसी-न-किसी रूप मे पोषण हो रहा था। (वीर-गाथा और भक्ति-काल के शास्त्रनिष्ठ कवियो की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बन्धनो का मोह नही छोड पाती थी—चन्द, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नन्ददास सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असदिग्ध प्रमाण है)। कुछ इतिहासकारो का यह तर्क कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ मे ही रीति-ग्रन्थो का किस प्रकार निर्माण हो सकता है—लक्षण-ग्रन्थ तो लक्ष्य-ग्रन्थो की समृद्धि के उपरात ही सम्भव है—अत्यन्त स्थूल है; क्योकि हिन्दी-साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नही है। वह सस्कृत और प्राकृत-अपभ्र श की प्रवहमान काव्य-धारा का एक रूपातर-मात्र है। संस्कृत-काव्य का पर्यवसान रीति ग्रंथो मे ही हुआ था—अतएव हिन्दी के आरम्भ मे रीति-ग्रन्थो की रचना सर्वथा स्वाभाविक और सहज थी। हिन्दी की इस रीति-परंपरा का पहला निश्चित स्फुरण है 'हिततरंगिणी',—परन्तु फिर भी उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' की रचनाओ के साथ। केशव के पूर्व और केशव के समय मे भी चूँकि जन-रुचि अनुकूल नही थी—केशव का युग भी आखिर तुलसी और सूर के सर्व-व्यापी प्रभाव से आक्रात था—इसलिए रीति-परपरा मे बल नही आ पाया। चिन्तामणि के समय तक उसे जन-रुचि का भी बल प्राप्त हो गया,

और बस तभी से यह धारा शत-सहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिन्तामणि का महत्त्व केवल आकस्मिक और संयोगजन्य है—वह एक संयोग-मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीति-ग्रंथों का तांता बँध गया। युग-प्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीति-कवियों में से किसी ने भी उनका इस रूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव उन्होंने केशव को ही दिया है और वास्तव में केशव ही इसके अधिकारी भी हैं; क्योंकि उन्होंने विचारपूर्वक संस्कृत रीति-काव्य की परम्परा को हिन्दी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार में भी उसको वाञ्छित महत्त्व दिया।



सहायक ग्रन्थों की सूची

१. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

Tarachand — 1. A Short History of the Indian People
2. हिन्दुतान के निवासियो का संक्षिप्त इतिहास

Rawlinson — India—A Short Cultural History

Edwardes & Garre — Moghul Rule in India

Tarachand — Influence of Islam on Indian Culture

Ishwari Prasad — A Short History of Muslim Rule in India

Moreland — From Akbar to Aurangzeb

Banarsi Pd. Saxena — History of Shah Jahan of Delhi

Jadunath Sarkar — History of Aurangzeb

Jadunath Sarkar — Fall of the Moghul Empire—I & II

Irwine — Later Moghuls— I & II

Khosla — Moghul Kingship & Nobility

Jadunath Sarkar — Studies in Moghul India

Tod — Annals and Antiquities of Rajasthan

ART

Havell — Indian Sculpture & Painting

V. Smith — History of fine Arts in India

Percy Brown — Indian Painting

राय कृष्णदास — भारत की चित्रकला

२. शास्त्रीय आधार

भरतमुनि	नाट्यशास्त्र
दण्डी	काव्यादर्श
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त	ध्वन्यालोक (लोचन-सहित)
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्
भोज	शृंगारप्रकाश
धनंजय	दशरूपक
राजशेखर	काव्यमीमांसा
मम्मट	काव्यप्रकाश
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
जयदेव	चन्द्रालोक
भानुदत्त	रसतरंगिणी
भानुदत्त	रसमंजरी
जगन्नाथ	रसगंगाधर
रूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि
हरिऔध	रस-कलश
रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि
श्यामसुन्दरदास	साहित्यालोचन
केशवप्रसाद मिश्र	मेघदूत की भूमिका
गुलाबराय्	नवरस
कन्हैयालाल पोद्दार	रस-मंजरी, अलंकार-मंजरी
अर्जुनदास केडिया	भारती-भूषण
S. K. De	Sanskrit Poetics
Kane	Introduction to Sahitya Darpana
Sankaran	Some aspects of literary criticism in Sanskrit
Lahiri	The concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics
Bhagwandas	The Science of emotions
Croce	Aesthetic

Richards	Principles of Literary Criticism
Richards	Practical Criticism
Mellone & Drummond	Elements of Psychology
Stout	Manual of Psychology
James	Principles of Psychology
Mcdougall	1. Outline of Psychology
	2. Energies of Man
Dewey	Psychology
Freud	1 Introductory Lectures on Psychoanalysis
	2 Interpretation of Dreams
	3. Leonardo da Vinci
Jung	1 Psychological types
	2. Modern Man in search of a soul
Bosanquet	History of Aesthetic
Bain	English Composition & Rhetoric
Pater	Appreciations
Read	English Prose Style
Murry	The Problem of Style

३. रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु-विनोद, नवरत्न
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्यामसुन्दरदास	भाषा और साहित्य
डा० रसाल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श, पद्माकर-पंचामृत, बिहारी की वाग्विभूति
केशव	रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया
चिन्तामणि	कविकुल-कल्पतरु
जसवन्तसिंह	भाषा-भूषण
मतिराम	रसराज, ललित-ललाम
भूषण	शिवराजभूषण

कुलपति	रस-रहस्य
दास	काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय
दूलह	कविकुलकंठाभरण
बेनीप्रवीन	नवरसतरंग
पद्माकर	जगद्विनोद, पद्माभरण
प्रतापसाहि	काव्य विलास : ह० लि० :
प्रतापसाहि	व्यंग्यार्थकौमुदी
रसिकगोविन्द	रसिकगोविन्दानन्दघन : ह० लि० :
उत्तमचन्द भंडारी	अलंकार-आशय : ह० लि० :